15.1.07

2.2.1.6

2.2.1

भारतीय डायस्पोरा अध्ययन

फीजी यात्रा

आधी रात से आगे

ब्रिज वी. लाल

अनुवाद

सत्या श्रीवास्तव

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

सम्मतियां

"गिरमिटिया एक कल्पनाशील और बहुमूल्य योगदान है...उम्मीद की जाती है कि यह पुस्तक अन्य औपनिवेशिक अनुबंध-श्रमिकों पर शोध के लिए आदर्श मानदंड के रूप में स्वीकार की जाएगी।"

'गिरमिटया : द ओरीजीन आफ द फीजी इंडियंस' पुस्तक पर **जर्नल आफ पैसिफिक हिस्ट्री**

"20वीं सदी का महान इतिहास...इसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें फीजी के इतिहास के आधुनिक और अत्यधिक जटिल व बहुफलकीय पक्षों को एक साथ प्रस्तुत किया है।"

'ब्रोकन वेब्स' पर द कंटेंपररी पैसिफिक : ए जर्नल आफ आईसलैंड अफेयर्स

"विभिन्न जातीय समुदायों पर समृद्ध और मनोरंजक संकलन—फीजी में विभिन्न जातियों के सामंजस्य पर—भारतीय-फीजी साहित्य को बहुमूल्य योगदान।"

'मिस्टर तुलसीज स्टोर' पर एंड्रयूज अरनो, नृशास्त्री, यूनिवर्सिटी आफ हवाई

ISBN 81-237-4546-X

पहला संस्करण : 2005 *(शक 1927)*
मूल © ब्रिज वी. लाल, 2005
अनुवाद © नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2005
On the other side of midnight : A Fiji Journey *(Hindi)*

रु. 55.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
ए-5 ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

अनुक्रम

भूमिका	*सात*
जड़ें और रास्ते	1
बहराईच	27
ताबिया	43
शादी	63
मास्टरजी	76
लबासा सेकन्डरी	89
गंगा पर सूर्योदय	109
जड़ें और रास्ते, पुनः	118

भूमिका

वर्तमान भारतीय शब्दावली का एक नया और सशक्त शब्द 'डायस्पोरा' है। तेज़ी से बढ़ते और विश्व स्तर पर अपनी छाप छोड़ते, भारतीय प्रवासी समुदाय को, भारतीय सरकारों द्वारा, पहले से कहीं अधिक लुभाया जा रहा है। वार्षिक 'प्रवासी भारतीय दिवस'—वाणिज्य और व्यापार में, रचनात्मक कलाओं और साहित्य में, सार्वजनिक सेवाओं और छात्रवृत्तियों में व खेलों में, प्रवासियों की उपलब्धियों का उत्सव मनाता है। अनिवासी भारतीयों के मामलों की देखरेख के लिए एक राज्य मंत्री को भी नियुक्त किया गया है। प्रवासी भारतीय भले ही पूर्वजों की संस्कृति के सांझे भागीदार हैं परंतु वे किसी भी तरह से एक समरूप समूह नहीं हैं। वे, शताब्दियों के भटकाव के, परिणाम हैं। उनके ऐतिहासिक अनुभवों, उनके सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोणों और भारत से तथा सभी भारतीयों के प्रति उनकी घनिष्ठता में, विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

एक-दूसरे से जुड़े हुए निबंधों का यह संग्रह, एक भिन्न प्रवासी संप्रदाय, फीजी-भारतीय जो, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में, शर्तबंध मज़दूरी के परिणामस्वरूप उभर कर सामने आए, के अनुभवों का संकलन है। फीजी के भारतीय शर्तबंध प्रवासी, उन लाखों भारतीयों की तरह थे जिन्हें—अफ्रीका, हिंद तथा प्रशांत महासागर तथा कैरिबियन 'किंग शुगर कॉलोनी' में भेजा गया। *गिरमिट* या समझौते, जिसके अन्तर्गत वे गए थे, समाप्त हो गया और कुछ वापस आ गए, परंतु अधिकांश, जड़त्व के कारण, और भारत लौटने के लिए एक लंबी कठिनाईयुक्त यात्रा करने की अनिच्छा से, या नये अवसरों और नई स्वतंत्रताओं से प्रेरित होकर, अपने नये प्रवासों में ही बस गए। विषम और अधिकांशतः क्रूर परिस्थितियों में निचोड़े गए उनके श्रम ने, तृतीय विश्व के अनेक राष्ट्रों की आर्थिक व्यवस्था को सुधारा है।

शर्तबंध मज़दूरी के अनुभवों के बारे में अधिकांशतः प्रवासियों के उत्तराधिकारियों द्वारा ही, बहुत कुछ लिखा गया है। सहानुभूति, समझ, और कल्पना से युक्त, इनकी रचनाओं ने, गिरमिटियाओं को, जो एक समय में किसी छोटे ईश्वर की सौतेली सन्तान कहलाते थे, आवाज़, शक्ति और मनुष्यत्व प्रदान किया है। इन रचनाओं ने, उनके

शर्तबंध अनुभवों को आधुनिक हिस्टोरियोग्राफी की अप्रत्यक्ष और निंदनीय सीमाओं से, सुरक्षित बचा लिया है। इस संग्रह में, मैंने, अपने लोगों के—फीजी-भारतीयों के—कुछ गहन, जीवंत उदाहरणों को प्रस्तुत किया है—उनके डर और आशाएं, उनके रीति-रिवाज़, जिनका पालन, वे, संप्रदाय को बनाए रखने हेतु और उसे उद्देश्य देने के दृष्टिकोण से करते रहे थे, कैसे वे, जीवन का उत्सव और उसके समाप्त होने का दुःख मनाते थे और कैसे भाग्य द्वारा खेली गई क्रूर बाज़ी को उन्होंने अपने हित में करने का प्रयास किया। कहने के लिए क्या कहानी है! यह एक ऐसा संप्रदाय था, जो अपने दासत्व के सायों से बचने का प्रयास कर रहा था, अपनी सांस्कृतिक जड़ों से दूर, प्रतिकूल वातावरण में फंसा, अपनी सीमाओं में जीवनयापन का प्रयास करता हुआ, बिना सहायता अपने दम से नयी शुरुआत करता हुआ। इन गिरमिटियाओं ने, कटुता और एक प्रतिकूल वातावरण में हस्तान्तरण के बावजूद, समय के साथ एक सुगठित और संबद्ध संप्रदाय निर्मित किया। इन लोगों ने, जिनकी शुरुआत ही, 'कुछ नहीं' से हुई थी, एक पीढ़ी के मध्य ही कितना कुछ पा लिया। कठिन से कठिन एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में मानवीय आत्मा की विजय, एक ऐसी विरासत है जो गिरमिटिया हमारे लिए छोड़ गए हैं।

अलिखित अतीत को शब्दबद्ध करना, जबकि स्मृतियों को भलीभांति संजोया नहीं गया हो और जिसके लिखित दस्तावेज़ भी उपलब्ध न हों, एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। इतिहास मेरा विषय रहा है, पर जो इतिहास मैं जानता हूं वह स्कूल और विश्वविद्यालय में पढ़े हुए इतिहास से भिन्न है। उस समय ज़ोर रटने पर था, ताकि परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ जा सके। सही इतिहास को जानना आवश्यक नहीं था। पढ़ाया हुआ इतिहास लिखित दस्तावेज़ों में से ही लिया जाता। सत्य अपने को स्वतः बयान करता है। आज जो इतिहास, मैं, पढ़ता और लिखता हूं, वह अलग है। मैं, इस विचार में सुखी हूं कि ज्ञान प्रायोगिक और आंशिक, दोनों है। और मैं यह स्वीकार करता हूं कि जो दोहरे विरोध, एक समय में परमपावन समझे जाते थे और पूरे तौर पर स्थापित समझे जाते थे, वास्तव में छिद्रिल और समस्यायुक्त हैं। मैं, यह भी मानने लगा हूं कि परमाणुत अध्ययन की अपेक्षा रचनात्मक साहित्य, अनुभव की सच्चाई को कभी-कभी अधिक सही रूप में पकड़ता है। जीवन के अनुभूत सत्य को, मैं, अर्ध-कल्पित साधनों द्वारा समझाने का प्रयास करता हूं। मैं, इसे प्रयोगात्मक कथा साहित्य कहता हूं।

इतिहास को रचनात्मक तरीके से, बिना फुटनोटों के, लिखने का विचार मुझे तब आया, जब एक वर्ष के लिए 1970 के दशक के अंतिम वर्षों में, मैं, अपने डॉक्टोरल थीसिस के लिए तथ्य संग्रहीत करने हेतु भारत आया था। मेरा शोध कार्य फीजी के शर्तबंध भारतीयों की पृष्ठभूमि का अध्ययन था। लगभग, छः महीनों के लिए, मैं, उत्तरपूर्व भारत के एक ग्रामीण, अशक्त क्षेत्र में रहा जहां से शर्तबंध मज़दूर

आए थे। यहीं से मेरे दादा-दादी भी आए थे। मैंने धुएं से भरे ढाबों में, चिकनाईयुक्त खाना खाया, मिट्टी के कुल्हड़ों में चाय पी, खटमल से भरे बिस्तरों पर सोया, जर्जर बसों में यात्रा की और टूटी-फूटी 'फॉरेन' हिंदी में बातचीत की। मैंने शीघ्र ही खोज लिया कि भारत, फील्ड वर्क के लिए, न तो मात्र एक स्थान है और न मात्र एक देश है। फीजी में हम, उसकी पौराणिक कथाओं और दन्तकथाओं, उसके लोकप्रिय धार्मिक ग्रन्थों, उसके कुछ अधिक ही मिठास भरे हिंदी गानों और फिल्मों के साथ बड़े हुए थे। हमारे छप्पर छाये घरों की बांस की दीवालों पर प्रसिद्ध फिल्मी सितारों की तस्वीरें भरी रहतीं (देवानंद, दिलीप कुमार, राज कपूर, नर्गिस, वहीदा रहमान) और साथ ही कई रंगों वाली देवी-देवताओं की तस्वीरें भी। अपने दादा-दादी की भूमि को देखने जाना मेरे लिए एक अत्यधिक तीव्र और भावनात्मक रूप से झकझोर देने वाला अनुभव था। मुझे लगा कि जिस अनुभव ने मेरे अन्तःकरण तक को हिला दिया है और मुझे अपने अस्तित्व से संबंधित प्रश्न पूछने के लिए विवश कर दिया है, उसे समझना नितान्त आवश्यक है। उस व्यक्तिगत खोज से ही मेरे पहले प्रयास ने जन्म लिया और मैं उन शक्तियों के समायोजन को समझने का प्रयत्न करने लगा जिन्होंने मुझे गढ़ा है। परंपरागत अध्ययन इस कार्य में अधिक सहायक नहीं हुआ। प्रेरित होकर, अपने खाली क्षणों में, मैं, अपने अलिखित अतीत का फिर से अध्ययन करने लगा। इस पुस्तक में संग्रहीत निबंध इन्हीं प्रयासों का प्रतिफल हैं।

यह मेरा सौभाग्य है कि शर्तबंध उत्प्रवास के सभी गंतव्यों पर मुझे जाने का अवसर मिला है : ट्रिनीडाड, गुआयना, सूरीनाम, मॉरिशस, और दक्षिणी अफ्रीका। वर्षों से किए गए अपने वार्तालापों और शोध से, मैं, इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि कुछ विशिष्ट बातों के विवरण अलग हो सकते हैं परंतु जो मैंने स्मृति के आधार पर कहा है उसकी प्रतिछाया, विश्वयुद्ध के उत्तरार्ध की पीढ़ी में, शर्तबंध प्रवासियों के अन्य संप्रदायों में भी दृष्टिगोचर होती है। मेरी इस यात्रा में वे अपने व्यक्तिगत क्षणों के सूचक पहचान सकते हैं, अपने ही पदचापों की प्रतिध्वनि सुन सकते हैं। कम से कम, यह आशा तो मैं कर सकता हूं। मैं, यह भी आशा करता हूं की भारत के पाठक, ऐसे लोगों के दूरस्थ संप्रदाय, जिसने उप-महाद्वीप से बड़ी विषम परिस्थितियों में उत्प्रवास किया और जिनकी राजनैतिक दशा ने, हाल ही के वर्षों में, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मुख्य समाचार निर्मित किए, की विषदापूर्ण गाथा में कुछ रुचिकर और जिज्ञासापूर्ण तथ्य पाएंगे।

मैं गौरवान्वित हूं कि नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, यह पुस्तक प्रकाशित कर रहा है। इस सौभाग्य के लिए डा. ज्ञानेश कुदेसिया का आभारी हूं जिन्होंने प्रकाशन हेतु, सर्वप्रथम विचार दिया, और ट्रस्ट के प्रोफ़ेसर बिपिन चंद्रा, जिन्होंने इसका स्वागत किया। मैं, इयान टेम्पिलमैन का भी आभारी हूं जिन्होंने कुछ सम्पादकीय संशोधनों के सहित इन निबंधों को छापने की अनुमति दी। ये निबंध सबसे पहले उन्हीं के

प्रेस, पेन्डानस बुक्स, द्वारा प्रकाशित हुए थे– *'मिस्टर तुलसी का स्टोरः ए फीजियन जर्नी'* और *'बिटर-स्वीट : द इण्डो-फीजियन एक्सपीरियन्स'*। इयान, सदैव, एक मित्र और एक परामर्शदाता रहे हैं। साथ ही, मैं, अपने उन सभी मित्रों और परिवारजनों का आभारी हूं जिन्होंने मेरे अकादमिक और लेखकीय जीवन में हमेशा सहयोग और प्रेरणा दी है और जिनके नामों से एक छोटी-सी टेलीफोन पुस्तिका भरी जा सकती है।

विनाका वाका लेवू, धन्यवाद,

ब्रिज वी. लाल
कैनबेरा

जड़ें और रास्ते

जहां प्रेम है वहीं हमारी जड़ें हैं,
हम लौटते हैं, उन जगहों पर
जहां यादें हैं,
बंधनों एवं स्थायित्व तथा प्रेम की।

प्रेम माथुर
(हिंदी रूपांतर)

भारतीय शर्तबंध मज़दूरों का पहला प्रेषण 1879 में फीजी गया था। तब फीजी को इंग्लैण्ड का उपनिवेश बने केवल पांच वर्ष ही बीते थे। सर आर्थर गॉर्डन, फीजी के पहले, गवर्नर ने भारत की ओर रुख़ किया क्योंकि उन्होंने फीजी श्रम का प्रयोग निषेध घोषित कर दिया था। उन्होंने देशी संप्रदाय को व्यावसायिक रोज़गार के बुरे प्रभावों से बचाने के लिए, ऐसा किया था। फीजी उपनिवेश, उस समय, निर्धन बाग़ान मालिकों और असहिष्णु विधियों का भण्डार था। साथ ही पड़ोसी प्रशांत महासागर के द्वीपों से श्रमिकों की उपलब्धि अस्थिर और तथाकथित रूप से ख़ून में रंगी रहती थी। फीजी आने से पहले, गॉर्डन, ट्रिनीडाड और मॉरिशस के गवर्नर रह चुके थे। इसलिए उनको शर्तबंध मज़दूरी का संपूर्ण ज्ञान था क्योंकि यह व्यवस्था 1837 से लागू हो चुकी थी। परिणामस्वरूप, गवर्नर ने उस उपनिवेश को, जो ब्रिटेन ने बड़ी ना नुकुर के बाद अपनाया था, पुनर्जीवित करने के लिए भारत और शर्तबंध मज़दूरी की प्रथा का सहारा लिया। ब्रिटेन चाहता था कि फीजी में आर्थिक आत्मनिर्भरता जल्द से जल्द स्थापित हो।

'लियोनिडास', की पहली सामुद्रिक यात्रा और 'सतलज पंचम', की 1916 में हुई आखिरी यात्रा के बीच में 87 जहाज़, जो मानव नौभार को ढोने के लिए विशेष रूप से निर्मित किए गए थे, ने कठिन परिस्थितियों में, अनन्त लंबी यात्राओं द्वारा, 60,000 पुरुष, स्त्री और बच्चों को कलकत्ता और मद्रास से फीजी पहुंचाया। महानदियों एवं पौराणिक व्यक्तित्वों पर आधारित जहाज़ों के नाम बड़े आकर्षक और जादुई प्रतीत होते थे—डैन्यूब, एल्ब, गैन्जिस, जमुना, राईन, एवॉन, सिरिया, पेरिकिल्स,

लियोनिडास, क्लाईड, इण्डस, मेन, मोंय, मेरसी, विरावा। आश्चर्य की बात यह है कि केवल एक जहाज़, 'सिरिया', 1884 में लापरवाह नौ संचालन के कारण, सूवा के समीप, नासिलाई की समुद्री चट्टानों से टकरा कर दुर्घटनाग्रस्त हुआ था। इस हादसे में 59 जानें गईं थीं। तीन महीनों की लंबी जहाज़ी यात्रा और एक माह की भाप के जहाज की यात्रा, कई स्थायी जीवन शैलियों और पुरानी आदतों को तोड़ने में सफल हुई। प्राचीन भारतीय ग्रामीण प्रथाओं और रीतियों का अन्त हुआ। कालापानी को पार करने वाली समुद्री यात्राओं ने सामाजिक अनुक्रम को समतल करने में मदद की और सांस्कृतिक नयाचार का विध्वंस किया। परंतु विध्वंसता की प्रक्रिया में सृजनता के भी बीज छुपे थे। समान अतीत और समान दशा के अंशों से तथा समान भाग्य और समान लक्ष्यों से, नये रिश्ते कायम हुए। इन सबमें 'जहाज़ी भाई' का रिश्ता भावनात्मक रूप से सर्वाधिक शक्तिशाली था। यह रिश्ता खून के रिश्ते की तरह प्रगाढ़ और सुख प्रदान करने वाला था। इस रिश्ते को, लोग, अपने जीवन के संध्याकाल में भी संजोये रहे। यह आपसी संबंध, अजनबी बाहरी दुनिया की अस्तव्यस्तता और जटिलता के बावजूद एकता का सूचक बना रहा।

अंत में लगभग 24,000 शर्तबंध मजदूर और उनके परिवार (जिनमें से कुछ फीजी में ही जन्मे थे), भारत वापस चले गए। परंतु अधिकांश लोग रुक गए। उनमें से कई तो वापस जाने की बात, अपनी वृद्धावस्था तक करते रहे। परंतु जैसे-जैसे अतीत की यादें धूमिल होती चली गईं और नये जीवन की सच्चाइयां उनका स्थान लेती गईं, वैसे-वैसे निर्णय का दिन टलता चला गया और फिर कभी नहीं आया।

नया जीवन परेशानियों से युक्त था। पूर्वजों के ज्ञान को नई परिस्थितियों के हिसाब से ढालना था। नये व्यवहारिक, अन्तर्जातीय संबंध स्थापित किए जाने थे। एक नये भूगोल को समझना था, एक नये शब्दकोष का ज्ञान अर्जित करना था। यह सब गिरमिटिया और उनके उत्तराधिकारियों ने कुछ प्रतिस्कंदन और कुछ आत्मसमर्पण की नीति अपनाते हुए किया।

बीतते समय के साथ उन्होंने फीजी अर्थव्यवस्था की नींव डाली। हरे गन्ने के लहरदार खेतों में अनपढ़, अंगूठा छाप, ही दृष्टिगोचर होते थे—अधिकांश रूप से बंजर भूमि पर, जिसे पहले कभी जोता नहीं गया था। रीवा और नावुआ के नमी से भरे धान के खेतों में वही गिरमिटिया दिखते, गन्ना क्षेत्रों में धीरे-धीरे उभरते बाज़ार-शहरों में, जो बाद में बड़े शहर बने, उनमें, हम उन्हीं को पाते, अगुआ प्राथमिक और सेकन्ड्री स्कूलों में, जो बाद में विशिष्ट स्कूलों में परिवर्तित हुए, में भी वही दिखते, गांवों से निकलती स्कूली बच्चों की अविरल धारा जो ग्रामों को छोड़ कर उन्हें ऐसे व्यवसायों की ओर ले गई जिसके बारे में उन गिरमिटिया बच्चों के माता-पिता सपने में भी सोच नहीं सकते थे, में भी वही दिखाई देते थे।

फीजी से मेरा सीधा संपर्क 1908 से आरंभ हुआ था। उस साल मेरे दादा

(आजा), गिरमिटिया के रूप में, फीजी आए थे। आजा एक मामले में भाग्यशाली थे—वे फीजी में तब आए जब गिरमिट के सबसे बुरे दिन बीत चुके थे—1890 के दशक के वर्षों की, हृदयविदारक शिशु मृत्युदर, निर्धारित घंटों से कहीं अधिक घंटों के लिए श्रमिकों से काम कराने की प्रथा, चीनी बाग़ानों में हुई शारीरिक हिंसा, एक अनिश्चित एवं अत्यधिक असुरक्षित जीवन। 1907 में, फीजी में, 30,920 भारतीय रह रहे थे जिसमें से केवल 11,689 ही शर्तबंध थे। मुक्त या 'खुले' भारतीय-17,204 एकड़ भूमि स्वयं जोत रहे थे। 5, 586 एकड़ में गन्ना और 9,347 एकड़ में धान बोया जाता था। भारतीयों के लिए, धीरे-धीरे, गन्ना ही प्रमुख उपज बन गयी।[1] 1911 तक. 40,286 भारतीयों में से 27 प्रतिशत उपनिवेश में ही पैदा हुए थे, और धीरे-धीरे यह संख्या समय के साथ बढ़ती ही चली गई, 1946 के आते-आते भारतीय, जनसंख्या का बहुसंख्यक हिस्सा बन गए और 'भारतीय प्रभुत्व' का डर फीजी में व्याप्त होने लगा—वह डर जिसने फीजी की जटिल राजनैतिक वार्ताओं को तब प्रभावित किया जब देश 1960 के दशक में स्वतंत्रता की ओर अग्रसर हो रहा था। (फीजी को 1970 में स्वतंत्रता प्राप्त हुई)।

छुटपन में हमने आजा और उनके अन्य, भूरे रंग के धोती पहने गिरमिटियाओं से गिरमिट की कहानियां सुनीं थीं—उषा की पहली किरण के साथ ही जान लेवा काम का शुरू होना, अच्छे और बुरे ओवरसियर, खचाखच भरी हुई 'एस्टेट लाइनों में पारिवारिक ज़िंदगी की असीमित कठिनाइयां, सांस्कृतिक निष्कासन, और अनिश्चितता जो बाग़ानों की जिंदगी का हिस्सा था और अपनी दुर्दशा का अर्थ निकालने के उनके प्रयास भी। मैंने यह कहानियां, विश्वविद्यालय में, शर्तबंध मज़दूरी की पुस्तकों को पढ़ने से बहुत पहले सुनीं थीं। इन किताबों ने हमारी कल्पना शक्ति को प्रभावित किया था, विशेषतौर पर ह्यू टिंकर द्वारा लिखित 'अ न्यू सिस्टम ऑफ स्लेवरी' ने।[2] मैंने विश्वविद्यालय के स्नातकपूर्व अध्ययन के आख़िरी वर्ष में इसे पढ़ा था। शर्तबंध मज़दूर, निर्धन ग्रामीण पृष्ठभूमि से आए भोले-भाले लोग थे, जिन्हें धोखेबाज 'आरकतियों' ने प्रवसन करने हेतु फंसा लिया था। बाग़ानों की कठोर कार्य प्रणाली ने उन्हें एक क्रूर अनुभव दिया—पर उनकी परेशानियों को कहीं सुनवाई नहीं थी, ओवरसियरों और तरदारों द्वारा उनकी औरतों पर जुल्म होते, उनके परिवार टूटकर इधर-उधर बिखर जाते, उनकी 'इज्जत' की धज्जियां उड़ा दी जातीं।

मेरे लिए, गिरमिट की इस व्याख्या को 1979, में हुए भारतीयों के फीजी आगमन

1. जे. डब्ल्यू. कोल्टर, *द ड्रामा ऑफ फीजी : ए कॉन्टेमपोरेरी हिस्ट्री* (रटलैण्ड, वर्मोण्ट, 1967), पृ.सं. 90-91
2. ह्यू टिंकर, ए न्यू सिस्टम ऑफ स्लेवरी : द एक्सपोर्ट ऑफ इण्डियन इन्डेनचर्ड लेबर अब्रॉड, 1834—1920 (लंदन, 1974)।

के शताब्दी समारोह ने और सुदृढ़ कर दिया। तब मैं ऑस्ट्रेलियन नेशनल यूनीवर्सिटी में स्नातक कक्षा का छात्र था। मानी हुई बात है कि, उस समय, अधिकांश वातावरण बोझिल ही था। तब तक 'गिरमिट' शब्द, फीजी के सामान्य भारतीय प्रवासियों के शब्दकोष का महत्वपूर्ण हिस्सा नहीं बना था। अधिकांश लोगों के लिए यह शब्द शर्मिंदगी और गुलामी से जुड़ा था—ऐसे इतिहास से जुड़ा था जिसे भूलना ही बेहतर था। समारोह ने इस शब्द में एक नयी जान फूंकी और लोगों ने एक ऐसे अतीत के बारे में अध्ययन करने का प्रयास किया जो अनुमान पर अधिक, तथ्यों पर कम आधारित था। उस अतीत को वर्तमान कठिनाइयों के चश्मे से देखा गया—ऐसा वर्तमान, जिसमें फीजी- भारतीय, जाति संबंधित राजनीति के कारण, सार्वजनिक जीवन की मुख्यधारा से अलग-थलग पड़ गए थे।

इतिहास की पश्चदृष्टि से अवलोकन किया जा रहा था। परिणामस्वरूप एक जटिल और विवादास्पद इतिहास का जन्म हुआ जिसने भारतीयों को इतिहास के शिकार के रूप में दर्शाया। उनकी न कोई अपनी आवाज़ थी न कोई अपनी शक्ति। 'चाबुक और बेड़ियों' की कहानी, आज भी, गिरमिट से संबंधित सार्वजनिक भाषणों और चिन्तन का प्रभावशाली हिस्सा है, यद्यपि, शर्तबंध मज़दूरी की आवश्यकता पर, आधुनिक इतिहास लेखन, प्रश्नचिह्न लगाता है।[3] शर्तबंध मज़दूरी गुलामी का दूसरा नाम था—इसमें कोई शक नहीं है। अत्यधिक काम ने कई गिरमिटियाओं की कमर तोड़ दी, बीमारियों ने उनकी जीवन लीला समाप्त की, मानवहिंसा और लोभ ने भी उनके जीवन को तहस-नहस कर दिया। दुःख और दर्द शर्तबंध मज़दूरी का एक अभिन्न अंग था। पर यह पूरी कहानी नहीं है। कठिनाइयां तो थीं परंतु यह भी सच है कि गिरमिटियाओं को अपने भाग्य निर्धारण का अधिकार भी प्राप्त हो गया था।

दासता के सिद्धान्त का मुख्य आधार, शर्तबंध मज़दूरों की भर्ती में धोखा-धड़ी का प्रयोग है। यह तर्क दिया जाता है कि, प्रवसन, भारतीय समाज और मानसिकता का अभिन्न अंग नहीं था, और कोई भी भारतीय अपनी जानकारी में, अपना घर छोड़कर, अन्जान स्थानों पर जाना कभी नहीं चाहता था। भारतीय किसान भूमि से बंधा मनुष्य था।

वह रीति-रिवाज़ों की संहिता द्वारा भूमि के साथ जकड़ा हुआ था। वह, नई, अन्जान दुनिया का खोजी नहीं था। पर वास्तविकता कुछ और ही है। इतिहास गवाह

3. उदाहरण के लिए देखिए, ब्लेम सीचरन *टाईगर इन द स्टार्सः द एनेटोमी ऑफ इण्डियन अचीवमेन्ट इन ब्रिटिश गुआयना* (लंदन,1997), डेविड डाबिडीन और ब्रिन्सले समारू (सम्पा.), *इण्डिया इन द कैरिबियन* (लंदन, 1987), मरीना कार्टर, *लक्ष्मी लेगेसीः द टेस्टीमोनीज़ ऑफ इण्डियन वीमेन इन नाइन्टींथ सेन्चुरी मॉरिशस* (स्टैन्ली-रोज़हिल, 1994), और सुरेंद्र और जॉय ब्रेन (सम्पा.), *सेटिंग डाऊन रूट्सः इण्डियन माईग्रेन्स इन साऊथ अफ्रीका*(जोहान्सबर्ग, 1990)।

है कि सदियों से भारतीय कृषक बेहतर मौकों की तलाश में और भूमिपतियों के शोषण से बचने के लिए, एक जगह से दूसरी जगह भटकता रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में, ग्रामीण भारत, एक अत्यन्त गहन परिवर्तन का अनुभव कर रहा था। यह परिवर्तन नये विचारों के परिणामस्वरूप हुए थे—जैसे निजी सम्पत्ति का नवीन विचार, जोत-क्षेत्र का असंख्य भागों में विभाजित होना, कृषकों में बढ़ती हुई कर्जदारी व प्राकृतिक विपदाओं के प्रभाव। पूर्वी उत्तर प्रदेश के क्षेत्र—जहां से फीजी के 60,000 में से 45,000 प्रवासी आए थे— इन परिवर्तनों से सबसे अधिक प्रभावित हुए थे (बाकी के प्रवासी 1903 के बाद दक्षिणी भारत से आए थे)। जीविका के स्रोत जब सूखने लगते हैं तब लोग बेहतर जिंदगी के लिए दूसरे अवसरों की तलाश में स्थानान्तरण करते ही हैं। यह एक प्राकृतिक क्रिया है।

परिणामस्वरूप, भारी तादाद में, लोग, आसाम के चाय बाग़ानों में, कलकत्ता की जूट मिलों में, बिहार की कोयला खानों में और बंबई की कपड़ा मिलों में, काम करने के लिए गए। 1891 और 1911 के बीच में, सिंधु और गंगा नदी की घाटी में स्थित कई ज़िले—फैज़ाबाद, गोण्डा, इलाहाबाद, आज़मगढ़, बनारस—की जनसंख्या में कमी हुई, और इसका कारण अधिकारियों ने प्रवसन ही बताया। गोण्डा में प्रवसन, 'उपाय-विहीन परेशानियों से, बचने का रास्ता बना।' सुल्तानपुर में भी वह, 'दुर्भाग्य से ग्रसित, और ज़िले की अनावश्यक जनसंख्या से मुक्ति पाने का प्राकृतिक उपाय बना।' गाज़ीपुर में, 'बड़ी संख्या में, प्रतिवर्ष, लोग अपने घरों को छोड़कर कलकत्ता के आस-पास तथा बंगाल और आसाम के उद्योग केंद्रों में काम की तलाश में जाते हैं, जबकि कई जुलाहे और अन्य लोग बंबई की मिलों में काम ढूंढ़ते हैं।' प्रवसन किस हद तक होता है, यह जानकर आश्चर्य होता है। अधिकारियों का कहना है कि 'प्रवसन का आर्थिक प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि ये श्रमिक ऊंची आय पाते हैं और भारी मात्रा में धन अपने घर भेजते हैं या ले जाते हैं।'[4] ऊंची आय का विषय विवादास्पद है—यह ऊंचा, कितना ऊंचा था?—परंतु प्रवसन के महत्व पर कोई विवाद नहीं है।

फीजी और अन्य स्थानों के शर्तबंध मज़दूर इन्हीं भटकते हुए मज़दूरों का हिस्सा थे। उनमें से अधिकांश ने, अपने ही प्रान्तों में पंजीकरण कराया था, न कि किसी दूरस्थ बड़े शहर में। जैसा कि आलोचक कहते हैं, परंतु सभी पंजीकृत श्रमिकों ने प्रवसन नहीं किया। गोण्डा और बस्ती, दो सबसे बड़े क्षेत्र जहां से उन्नीसवीं शताब्दी में, उत्प्रवास हुआ, में, पंजीकृत श्रमिकों में, लगभग 50 प्रतिशत लोगों ने प्रवसन नहीं

4. देखिये एफ. डब्ल्यू. ब्राउनरिग, सुल्तानपुर सेटिलमेन्ट रिपोर्ट (इलाहाबाद,1898), 6; सी.ई. क्रॉफोर्ड, आज़मगढ़ सेटिलमेन्ट रिपोर्ट(इलाहाबाद, 1898) और एच आर नेवाईल, गाज़ीपुर डिस्ट्रिक्ट गैज़िटियर (नैनीताल, 1908), 79।

किया जबकि अन्य स्थानों पर करीब एक तिहाई देश में ही रह गए—या तो उन्हें मना कर दिया गया और या वे स्वयं ही नहीं गए। प्रवसन की असफलता की ऊंची दर इस बात का सबूत है कि श्रमिकों ने प्रवसन में अपनी रुचि अनुसार कार्य किया। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि धोखेबाज़ आरकतियों ने भोले-भाले और अन्जान लोगों को अपने जाल में नहीं फंसाया। उन्होंने, ऐसा किया पर उस हद तक नहीं जिस हद तक दासता का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है।

उपनिवेशों में प्रवसन, लोगों द्वारा बड़े पैमाने पर, किए गए आंतरिक स्थानान्तरण का हिस्सा था। मुझे, आजा द्वारा यह बताना कि वह फीजी किस तरह आए थे, अच्छी तरह याद है। वे, लगभग बीस वर्ष के नवयुवक थे, जब उनके दोस्त ने उन्हें टापुओं में सुनहरे मौकों के बारे में अवगत कराया था। सुनहरे अवसरों के बारे में उन्होंने कुछ पूछा नहीं। वे एक बेरोज़गार और स्वतंत्र नवयुवक थे तथा एक साहसिक यात्रा पर जाने की बात ने उन्हें आकर्षित किया था। अन्ततः वे कलकत्ता पहुंच गए और गुआयना(डिमेरारा) जाने वाले समूह में शामिल हो गए। वह जहाज़ भर चुका था, अतः उन्होंने अगला जहाज़ फीजी के लिए या तो खुद लिया—या उन्हें उस पर बिठा दिया गया। मुझे इसमें कोई शक नहीं है कि फीजी के बारे में उन्हें कुछ पता था—फीजी क्या है और कहाँ है? शायद यह तथ्य उनके लिए कोई मायने भी नहीं रखता था। उन्हें पता था कि पर्याप्त धन कमाने के बाद, एक दिन, जल्द ही वे वापस आ जाएंगे। पर सोचा हुआ कभी नहीं होता। भाग्य और परिस्थितियों ने ऐसा खेल खेला कि निर्णय का दिन कभी नहीं आया—न उनके लिए और न ही उनके अधिकांश गिरमिट साथियों के लिए।

कैरिबियन और अन्य स्थानों पर शर्तबंध श्रम के परिणामस्वरूप जो सांस्कृतिक बिखराव हुआ, उससे फीजी बचा रहा। सूरीनाम के बाद, भारतीय शर्तबंध श्रम का, सबसे बड़ा खरीददार, फीजी था। 1870 और 1880 के अंतिम दशकों तक, भारत से पूर्ण संबंध विच्छेद अतीत की बात हो गई थी। फीजी में, गिरमिटिया लोगों ने अपनी सांस्कृतिक जड़ों को, पूरी तरह से, कभी नहीं त्यागा। 1890 के दशक के शुरूआती दौर में, जबकि शर्तबंध उत्प्रवास को शुरू हुए लगभग एक दशक ही बीता था, हिंदू धर्म और ग्रामीण संस्कृति के मूल ग्रन्थ, फीजी के चीनी क्षेत्रों में, जहां अधिकतम तादाद में भारतीय बस्तियां थीं, में पाये जा सकते थे।[5] इनमें, राम चरित मानस, सत्य नारायण की कथा, सूर्य पुराण, देवी भक्त, दानलीला, दुर्गा सप्तशती, इंद्रसभा, शामिल थे। इसके अतिरिक्त बेताल पच्चीसी, सालिंग सदाबृज, आल्हा खण्ड की कहानियां भी उपलब्ध थीं। सार्वजनिक समारोहों में, तथा अन्य अवसरों पर भी जब लोग एकत्रित होते, सामूहिक रूप से, इन ग्रन्थों का पाठ होता।

5. देखिये मेरा 'हिंदूइज़्म अण्डर इन्डेन्चरः तोतारम सनाध्या एकाउन्ट ऑफ फीजी', इन जर्नल ऑफ पैसिफिक हिस्ट्री 30:1 (1995), 19-111।

शुरूआत से ही, होली (फगुआ) और ताज़िया (मोहर्रम), अधिकांश बाग़ानों में, सार्वजनिक अवकाश के दिन हुआ करते थे। हिंदू और मुसलमान संप्रदायों के धार्मिक नेताओं ने आध्यात्मिक ज्ञान अर्जन के लिए विभिन्न केंद्र बनाए (कुटियां, धर्मशालाएं और मदरसे)। समान विचारों वाले लोगों की अनौपचारिक सभाएं, बाद में सांस्कृतिक और सामाजिक संघों के रूप में पल्लवित हुईं और इन्हीं संस्थाओं ने भारतीय-फीजी संप्रदाय की प्रगति और उत्थान में बहुमूल्य योगदान दिया।

धर्म बचाव और विरोध, दोनों का साधन बना। ईसाई मिशनरियों द्वारा अथक प्रयासों के बावजूद, वे फीजी के भारतीय प्रवासियों पर कुछ खास प्रभाव नहीं डाल पाये। गिरमिटिया इन मिशनरी लोगों को सी.एस.आर. के ओवरसियरों के अतिक्रमणों और औपनिवेशिक सरकार की भेदभाव की नीतियों से जोड़ते थे। उन्होंने इसलिए भी धर्म परिवर्तन नहीं किया क्योंकि वे अपने धर्म को अधिक उच्च मानते थे। कैरिबियन में भारतीय अनुभव इससे अलग था जहां ईसाई मिशनों ने मुख्यतः प्रेसबाईटेरियनों ने काफी सफलता पायी। उन्होंने प्रवासियों को शिक्षा के माध्यम से स्वयं विकास और उच्च प्रगति[6] का एक बहुत सबल मौका दिया। कैरिबियन में उत्प्रवासी संस्कृति अपने पूर्वजों की जडों से बहुत समय तक अलग रही और बागानी व्यवस्था पर पूरी तरह से निर्भर रही, इसीलिए बाह्य प्रलोभनों से आसानी से प्रभावित हो गई; फीजी में जड़ें यद्यपि उधड़ सी गईं थीं एवं अधिक छिछले और असत्कारशील मिट्टी में बोयी गईं थीं तथापि उदासीनता और उपेक्षा के कारण, सौभाग्य से, स्वयं को, बिना रोक-टोक के, बढ़ने-बढ़ाने में, वे सफल हुईं।

कैरिबियन से एक और महत्वपूर्ण भिन्नता थी। जहां, कैरिबियन में, शर्तबंध मज़दूर और उनके उत्तराधिकारी, पीढ़ियों तक, बाग़ानों में बने रहे—और बागानी व्यवस्था की स्मृतियां, जर्जर इमारतों और अवरुद्ध जलमार्गों के रूप में आज भी दृष्टिगोचर होती हैं—फीजी में निर्भरता की अवधि केवल पांच, अधिक से अधिक दस वर्षों तक ही थी। यहां गिरमिट एक सीमित अवरोध था, कैरिबियन एवं दासों की तरह, अनेक पीढ़ियों की शृंखला के लिए, उम्र क़ैद नहीं। 1880 के दशक के मध्य से, जो लोग गिरमिट से मुक्त होते गए, उन्होंने, मुख्य रूप से चीनी मिलों के आस-पास, अपनी स्वतंत्र बस्तियां, दो मुख्य टापुओं—वीटीलेवू और वानुआलेवू[7],

6. देखिये डेल बिस्नौथ, 'द ईस्ट इण्डियन इमीग्रेन्ट सोसायटी इन ब्रिटिश गुआयना, 1891-1930 (पी.एच.डी थेसिस, यूनिवर्सिटी ऑफ वेस्टइंडीज, मोना, 1977, 199); और देखिये आर्थर एण्ड जुनैता नाईहौफ, *ईस्ट इंडियन्स इन द वेस्टइंडीज* (मिलवाउकी, 1960), एण्ड ब्रिन्सले समा(सम्पा.) *पायनियर प्रेसबाईटेरियन वर्क इन ट्रिनीडाड* (सेन्ट आगस्टाइन, 1996)।

7. देखिये गिलियन, *फीजी इण्डियन माइग्रेन्स, ए हिस्ट्री टू द एण्ड ऑफ इन्डेन्चर* (मेलबोर्न, 1962) और अहमद अली, *ए सोसायटी इन ट्रान्ज़िशन, ऐस्पेक्ट्स ऑफ फीजी इण्डियन हिस्ट्री, 1879-1937* (सूवा, 1976)।

में बना लीं। फीजी में, आज भी यही स्थान, भारतीय बस्तियों के केंद्र हैं और आज भी, फीजी-भारतीय, किसी न किसी तरह से, चीनी-उद्योग पर ही निर्भर हैं—मिल श्रमिकों, साधारण श्रमिकों, पट्टेदार कृषकों, आदि के रूप में। स्वतंत्र बस्तियों ने पूर्व गिरमिटियाओं को व्यक्तिगत अवसर ही नहीं दिए वरन् उन श्रमिकों के लिए, जो अभी भी शर्तबंध थे, आशा की किरण के प्रतीक थे। वे, बाग़ानों की सीमा के पार, स्वतंत्रता के यथार्थ का प्रत्यक्ष अनुस्मारक थे। बाग़ानों की सीमाओं पर स्वतंत्र बस्तियों की तेज़ प्रगति ने शर्तबंध मज़दूरों के सम्पूर्ण एकान्तवास को सीमित कर दिया और समय के साथ शर्तबंध और स्वतंत्र भारतीयों के बीच शारीरिक और भावनात्मक संबंध, अधिक छिद्रिल और सहज अतिक्रमणित हुए।

अनेक प्रवासियों के लिए, शर्तबंध मज़दूरी, अनेक कठिनाइयों के बावजूद, भारत में, उनकी दशा से, बेहतर थी। यह बात, मुख्य रूप से, निम्नवर्गों के लिए सत्य साबित हुई। उन्हें, सदैव, भारत के ग्रामीण समाज के बाह्य किनारों पर ही रखा जाता था—अछूतों, पट्टेदारों या भूमिविहीन कृषकों के रूप में। इस जन्म या अगले जन्म में भी उन्हें अपने जीवन को सुधारने की कोई आशा नहीं थी। बाग़ानों में नित्य का अनवरत काम का दबाव, उनके लिए कोई नई बात नहीं थी। कम से कम, फीजी में, मनुष्य के रूप में उनकी व्यक्तिगत योग्यता को पहचान दी गई और उनके प्रयासों को, आरोपण के आधार पर नहीं वरन् उनकी उपलब्धियों के आधार पर पुरस्कृत किया गया। बाग़ानी व्यवस्था के समतल करने की प्रवृत्ति ने, ऐसे लोगों को, अपने दमघोंटू अतीत से एक आकर्षक बदलाव दिया होगा और उनको और उनके बच्चों के लिए एक ऐसे भविष्य का वायदा किया होगा, जिसमें, उनके पास कुछ कर दिखाने का एक मौक़ा था। अन्य लोगों ने, जो दुर्भिक्ष, बाढ़, अकाल या लोभी भूमिपतियों के शिकार बने थे, नये वातावरण की शान्ति और सुरक्षा का स्वागत किया। 1950 में, मानव वैज्ञानिक, एड्रियन मायर को एक शर्तबंध मज़दूर ने, अपने मज़दूरी के दिनों की याद करते हुए बताया, 'शर्तबंध का समय आज से बेहतर था। आप अपना काम करते और इसके अलावा कुछ नहीं। आपको पता था, कि आपको, रोज़ खाना मिल जाएगा। मेरे साथ मेरे जहाज़ी भाई थे और अगर आपको अच्छा सरदार या ओवरसियर मिल जाय तब आपकी स्थिति बहुत खराब नहीं होती थी। बेशक, अगर वे लोग खराब होते थे, तब आपको ध्यान रखना पड़ता था। परंतु, अब मैं क्या करूं? मेरे पास गन्ना उपजाने के लिए भूमि, बैल और एक घर है। फिर भी हर रात मैं जगता रहता हूं, आहट लिए रहता हूं कि कहीं कोई मेरा गन्ना, जला तो नहीं दे रहा या मेरे पशुओं को कोई चुरा तो नहीं लिए जा रहा है। शर्तबंधी की 'लाइनों' में, हम, आराम से, बिना किसी चिन्ता के सोते थे।'[8]

8. ए सी मायर, *पेज़ेन्टस इन द पैसिफिक. ए स्टडी ऑफ फीजी इण्डियन रूरल सोसायटी* (बर्कले सेकेन्ड एड 1973), 6.

मौखिक साक्ष्य और अभिलेखागारों के दस्तावेज़, दोनों ही दर्शाते हैं कि कुछ निम्न वर्ग के श्रमिकों ने, मुख्य रूप से जो सरदार बन गए थे, अपने उच्च वर्ग के स्वदेशी भाइयों से, भारत में उनके द्वारा किए गए सामाजिक दमन का बदला लिया। अतः, एक स्तर पर सभी गिरमिटिया मटर के दानों की तरह समान थे, बोझा ढोने के जानवर थे, पर वे सामाजिक वर्गों में बंटे हुए एक समूहमात्र भी थे, जिसके सदस्य, विभिन्न पृष्ठभूमियों, भिन्न-भिन्न अनुभवों और जीवन से अलग-अलग अपेक्षाएं लिए हुए भी एक थे। अतः, गिरमिट दासत्व और मुक्ति, दोनों का ही, एक साथ परिचायक था—यह तथ्य, आज, उसके साहित्य से, अधिकांश रूप से लुप्त पाया जाता है।

मेरे आजा, लबासा में सी.एस.आर. के अस्तबलों में काम करने के बाद, 1913 में स्वतंत्र हो गए थे। अन्य कई मुक्त गिरमिटियाओं की तरह वे भी कंपनी की मिल में कुछ वर्ष और काम करते रहे। तत्पश्चात्, अपने सबसे प्रिय दोस्त की पत्नी के साथ भाग कर उन्होंने दस एकड़ भूमि का एक टुकड़ा पट्टे पर लिया और ताबिया की नई बस्ती में अपने नये जीवन की शुरूआत की। उन्होंने चावल, दाल, मक्का, वीन, बैंगन, तरबूज़, कद्दू और मूंगफली उगाई जब तक कि 1930 के दशक के अंतिम वर्षों में, वहां, गन्ना नहीं आया। उसी अविकसित गन्ने के फार्म पर, जिसके आस-पास कोई पक्की सड़क नहीं थी, न ही बहता पानी और बिजली थी, हम सब पल-बढ़ कर बड़े हुए।

अब फार्म चला गया है। फीजियन भूमिपतियों ने उसे वापस ले लिया है। परिणामस्वरूप, मेरे जन्मस्थान से जुड़ी यादें बिखर गई हैं, उस स्थान से मेरे संबंध की गहनता कम हो गई है, और मुझे चीज़ों की खासतौर से जीवन की ही अस्थिरता का एहसास हो गया है। आजा ताबिया इसलिए नहीं गए कि वहां उनके दोस्त, परिवार, सहजाति सदस्य या जहाज़ी भाई थे। वे वहां इसलिए गए कि वह एक नई बस्ती थी और पट्टे पर ज़मीन उपलब्ध थी। कृषि योग्य भूमि का उपलब्ध होना और उसका बाज़ारों, सड़कों और अन्य सुविधाओं के समीप होने के तथ्य ने ही, फीजी में बिखरी हुई भारतीय बस्तियों का स्थापित होना सुनिश्चित किया। इन बस्तियों की स्थापना में, जातिवाद, धार्मिक झुकाव और सरकारी आदेशों ने कोई भूमिका अदा नहीं की। भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में, सामाजिक श्रंखला के आधार पर गृहों का निर्माण, सामान्य सुविधाओं का जाति के आधार पर उपलब्ध होने का रिवाज़, उपयुक्त व्यवहारिक कानूनों का बनना और लागू होना, फीजी में दोहराया नहीं जा सका।[9] भारतीय-ग्रामीण-संसार की जो टूटन कलकत्ता और मद्रास के डिपो में शुरू हुई, वह बागानों में और

9. देखिये चंद्रा जयवर्दीन, 'द डिस्इंटग्रेशन ऑफ कास्ट इन फीजी इण्डियन रूरल सोसायटी', इन एल आर हियात एण्ड चंद्रा जयवर्दीन(एडस), *एन्थ्रोपॉलोजी इन ओशियाना* (सिडनी, 1971) 88-119, और बेन्जामिन शर्वाट्ज़ (एड), *कास्ट इन ओवरसीज़ इण्डियन कम्यूनिटीज़* (सैनफ्रांसिसको, 1967)।

तेज़ हुई और शर्तबंध के उत्तरकाल में संपूर्णता को प्राप्त हुई।

मैंने आजा को एक वृद्ध व्यक्ति के रूप में ही जाना। उनके जीवन की कुछ बातों के संबंध में, मैं, अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर, पूर्ण विश्वास के साथ बता सकता हूं, और कुछ बातों के बारे में, अध्ययन और शोध के बाद। आजा अपने बचे हुए जहाज़ी भाइयों के साथ अपनी ही भाषा में बात करते थे (जो भोजपुरी और अवधी का मिश्रण थी)। वे फीजी हिंदी, धीमे-धीमे, भारतीय स्वराघात से ही, बोल पाते थे। मेरी फीजी हिंदी, जिसमें, अंग्रेजी और फीजियन शब्दों की मिलावट है, उन्हें समझ में नहीं आती थी। उन्होंने हमेशा भारतीय कपड़े ही पहने—धोती, कुर्ता और पगड़ी। उनके और उनकी पीढ़ी के साथ ही भारतीय पहनावा समाप्त हो गया और उनकी जगह पश्चिमी कपड़ों ने ले ली—नेकर और शर्ट, जो मेरे पिता की पीढ़ी द्वारा अपनाये गए। औरतों के गहने—बिछुआ, पायल, झुमका, नथनी, बाजूबंद, भी गिरमिटिया औरतों के साथ लुप्त हो गए और उनकी जगह सोने की मोहरों की लड़ियों ने ले ली। इन्हें, औरतें, अपनी समृद्धि और सामाजिक स्तर दर्शाने के लिए पहनती थीं। ग्रामीण इलाकों में, वे, आज भी ऐसा करती हैं।

मेरे आजा का संसार भूत, प्रेतों, शैतानी ताकतों और जादू-टोने से भरा था। इन शक्तियों को उचित रीति-रिवाज़ों द्वारा ही शांत किया जा सकता था और यह रिवाज़ आजा के साथ समाप्त हो गए।[10] वे, एक अज्ञात-सी भाषा (मेरे लिए) में अपने ग्राम-देवता और कुल देवताओं की पूजा करते—किसी वर-प्राप्ति के लिए, किसी बुरी आत्मा को या भविष्य में आने वाली किसी बला को टालने के लिए। सिर दर्द, पीलिया, बुखार या कुत्ते के काटे हुए को ठीक करने के लिए वे स्थानीय ओझा से ही परामर्श लेते थे; उनका उसमें विश्वास था; भारत में इसी तरह काम किया जाता था। उन्हें, पश्चिमी दवा दारू के बारे में कुछ नहीं पता था। वैसे भी वह मंहगी पड़ती थी और आसानी से उपलब्ध भी नहीं होती थी। उन्हें, बाद के दिनों तक भजन याद थे, जो वे अपने अन्य गिरमिटियाओं के साथ मिलकर, बड़ी भक्ति से, खास मौकों पर गाते थे। सामाजिक संबंधों का आधार अब जाति नहीं रह गई थी, क्योंकि कलकत्ता के भरे हुए डिपो में और प्रवसन के संकुलित जहाज़ों पर हिल चुकीं उसकी जड़ें बाग़ानों में पूरी तरह समाप्त हो चुकी थीं, क्योंकि, फीजी में उत्पादकता उत्पन्न करने वाले काम का महत्व अधिक था न कि जाति स्तर का, क्योंकि व्यवहारिक आधारों को तोड़ने की कोई सजा, यहां नहीं थी, क्योंकि औरतों की कमी ने अन्तर्जातीय विवाह ही नहीं वरन अन्तर्धार्मिक विवाहों को भी बढ़ावा दिया था। बाग़ानी प्रबंध

10. देखिये स्टीवेन वर्टोवेक, 'ऑफीशियल एण्ड पाप्यूलर हिंदूइज़्म इन द कैरिबियनः हिस्टोरिकल एण्ड कॉन्टेमपोरेरी ट्रेन्डस इन सूरीनाम, ट्रिनीडाड एण्ड गुआयना', इन डेविड डाबिडीन एण्ड ब्रिन्सले समारू (एडस), *एक्रॉस द डार्क वॉटर्सः एथनिसिटी एण्ड इण्डियन आईडेन्टिटी इन द कैरिबियन* (लंदन, 1996), 108-130.

व्यवस्था जातीय सीमाओं को नहीं मानती थी क्योंकि वे सीमाएं श्रमिकों की भर्ती में परेशानियां खड़ी करती थीं। इस सबके बावजूद आजा अपने बचपन के कुछ छोटे-मोटे, पीड़ारहित रिवाज़ों को मानते रहे, शायद अपनी युवावस्था के संसार से लुप्त होते हुए अपने संबंधों को बनाए रखने के लिए। गिरमिटियों द्वारा समाज में परिवर्तन की नई शक्तियां (शिक्षा, सुधादित संचार में) बनने के फलस्वरूप यह व्यवस्था धीरे-धीरे समाप्त हो गई। साथ ही अन्तर्जातीय विवाह भी।

आजा और उनकी तरह के अन्य लोगों के लिए, फीजी का जीवन, उनके पीछे छूटे हुए जीवन से बिल्कुल विरोधी सिद्ध हुआ होगा। समुद्र से घिरे द्वीप का प्राकृतिक दृश्य विभिन्न नदियों से बंटा हुआ, भयानक जंगलों से भरा हुआ, बड़े-बड़े पर्वतों के बीच, अजीब से लोगों द्वारा निवासित था—उत्तरी भारत के, घनी आबादी वाले, समतल मैदानी इलाकों में रहने वाले लोगों के लिए बिल्कुल अन्जान प्रतीत हुआ होगा। शायद, बाग़ानों की विषम कार्यगति, मज़दूरी और कृषकी पृष्ठभूमि के लोगों के लिए कोई नई बात नहीं रही होगी, परंतु उसकी निष्ठुर गति, एक जीते-जागते सुव्यवस्थित संप्रदाय की ग़ैरमौजूदगी में अपना कुप्रभाव छोड़ ही गई। गृहस्थ आश्रम के अन्तर्गत आदमी औरत के संबंधों का पुनरावलोकन किया गया। यह करना ही पड़ा क्योंकि खेतों में आदमियों के साथ मिलकर औरतें काम करती थीं और ऐसी जिम्मेदारियां उठाती थीं जो भारत में उन्हें नहीं उठानी पड़तीं थीं। छोटे-छोटे रीति-रिवाज़ों सहित जाति प्रथाएं समाप्त हो चुकी थी और सामाजिक और सांस्कृतिक अन्तर्वेशन या बहिष्करण की सीमाएं लचीली हो गईं थीं।

नये वातावरण में, नये व्यवहारिक, अन्तर्जातीय और अन्तर्धार्मिक संबंध स्थापित करने पड़े। उस नये वातावरण में गिरमिटिया केवल अपने ऊपर निर्भर थे, अधिक एकाकी थे और अपने लुप्त हो रहे अतीत की व्यवस्थाओं को नये वातावरण में समायोजित करके, आगे बढ़ रहे थे। आजा, वह झोपड़ी जिसमें वे सोते थे, के पीछे, एक संतरे के पेड़ के साये में, चारपाई पर लेटे रहते, और खाली और अंधी हो चली आंखों से दूर किसी काल्पनिक बिंदु को ताकते रहते थे—यही मेरी उनके बारे में चिरस्थायी याद है। वे हमेशा अपने बचपन की ही बातें करते, कभी रोते, कभी सोचते कि उनके दोस्त और परिवार उनके पीछे छूटे गांव में क्या कर रहे होंगे? वे, एक ऐसे अतीत के लिए आशाविहीन ललकते जो वस्तुतः अतीत हो चुका था। अपने नये संसार को अब जो उनका घर था, कैसे अपनाएं, शायद इसका उन्हें पता नहीं था। 1962 में उनका स्वर्गवास हो गया।

मेरे पिता 1918 के आस-पास जन्मे थे। किसी को ठीक तारीख नहीं पता थी परंतु उससे कोई फर्क नहीं पड़ता था; तब ऐसे ही काम हुआ करते थे। जब भी उनसे पूछा जाता तब वे यही बताते कि वे 1918 की बड़ी बीमारी (इन्फ्लूइन्ज़ा महामारी) के दौरान पैदा हुए थे। उनका यह अनुमान काम दे जाता। उनकी पीढ़ी

गिरमिट के साये में पली-बढ़ी। निर्धनता और अनिश्चितता के अनुभवों ने उनकी गढ़त की। धीरे-धीरे विकसित हो रहे संप्रदाय के बाह्य किनारों पर रह कर, वे अपने अस्तित्व और पहचान के प्रति असुरक्षित महसूस करते रहे। फिर भी उन्होंने अपनी याद में जो भी मापक थे उनको लागू करने के लिए यथापूर्ण प्रयास किया। अधिकांशतः एक घेरे में बंद तथा अपने स्वतःपूर्ण सांस्कृतिक में सिमटे हुए ही, वे पले-बढ़े। शर्तबंध अनुबंधों के ख़त्म होने पर, भारतीय, औपनिवेशिक प्रशासन की ज़िम्मेदारी नहीं रह गई। उन्हें स्वयं उनके स्वःप्रयासों पर छोड़ दिया गया। संप्रदाय ने अपने स्वयं के संघ और स्वयं सेवा की परियोजनाएं शुरू कीं—गन्ना काटने के लिए, सेटलमेण्ट कमेटियां बनायी गईं, मंदिर और मस्जिद स्थापित हुए, स्कूलों का निर्माण हुआ, शमशान घाट बने, वार्षिक त्यौहार शुरू किए गए, ग्राम मण्डलियों द्वारा रामायण पाठ आयोजित किए गए, गांव के पांच बड़े-बूढ़ों की एक समिति, 1930 के दशक में, अधिकारियों द्वारा प्रोत्साहन पाने पर, गठित की गई। अधिकारियों ने, गांव के जीवन में व्यवस्था लाने हेतु ऐसा प्रोत्साहन दिया था। यह समिति छोटे-मोटे झगड़ों को निपटाती थी—भूमि-सीमा संबंधित झगड़े, भटके हुए मवेशियों द्वारा फसल के नुकसान हेतु जुर्माना तय करना, वैवाहिक तनावों का निपटारा, और संप्रदाय मापकों को लागू करवाना। परायी कानूनी संस्थाओं और व्यवस्थाओं पर शक, न्यायालयों में मुकदमों पर हुआ व्यय, सामाजिक अस्वीकृति और निर्वासन का डर—इन सब बातों ने लोगों को पुराने तौर-तरीकों को अपनाने के लिए विवश किया। जिस समय ग्रामों का संसार एकाकी था और आंतरिक विभाजनों की तरफ अग्रसर हो सकता था, उस समय पंचायतों ने प्रभावशाली कार्य किया। परंतु जैसे-जैसे संयुक्त परिवार टूटने लगे, शिक्षा और आय बढ़ने लगी और यातायात के संसाधनों में बढ़ोत्तरी होने से ग्रामों का रिश्ता अन्य संसार से कायम हो गया, तब पंचायत समिति, अपनी सत्ता और मूलाधार खो बैठी। आज, वे एक दूरस्थ याद बन कर रह गईं हैं। मुकदमेबाज़ी, फीजी-भारतीयों के जीवन का, एक महत्वपूर्ण और उदण्ड हिस्सा बन गई। आज भी है।

फीजी-भारतीय संप्रदाय की आत्मलीनता का कारण, शर्तबंध काल के पश्चात् उत्पन्न हुई विशेष परिस्थितियां थीं—बिखरी हुई बस्तियां, गन्ने के खेतों पर दुष्कर संग्राम, बाह्य सहायता की अनुपस्थिति, औपनिवेशिक सरकार की उदासीनता। आत्मलीनता का एक और कारण था—औपनिवेशिक नीति, जिसने अन्य संप्रदायों, मुख्यतः देशी फीजियन संप्रदाय के साथ सम्पर्क प्रतिबंधित कर दिया। इसका परिणाम बुरा हुआ। गॉर्डन की, 'मूल निवासी नीति' ने भिन्न-भिन्न प्रशासनिक व्यवस्थाएं स्थापित कीं—वस्तुतः राज्य के अंदर राज्य बनाया—इस व्यवस्था ने फीजियों की गतिशीलता को सीमित कर दिया और उनके लिए, रोज़गार के अवसर, उनकी व्यवस्थाओं के बाहर, कम कर दिए। यह सब, फीजी संप्रदाय को, बाहरी संसार के कुप्रभावों से बचाने हेतु

किया गया था।[11] जब-जब भारतीयों ने, ग्राम सीमाओं को तोड़कर, वास्तविक संबंधों को स्थापित करने का प्रयास किया, तब-तब फीजियों को फटकारा गया, उन पर जुर्माना भी लगाया गया और भारतीयों को गांवों के आस-पास से निष्कासित कर दिया गया।

औपनिवेशिक नीति, जिसने दोनों संप्रदायों को अलग-अलग उप-खण्डों में विभाजित कर दिया था, ने उनके बीच जातीय और सांस्कृतिक अलगाव के कारण पैदा किए। आपसी निरादर और शक को बढ़ावा दिया। फीजी के कुछ स्थानों पर अपवाद भी हुए जहां दोनों संप्रदाय पास-पास जगहों पर एक साथ रहे, परंतु फिर भी, अलग-अलग विकास और खण्डों में ही उनका जीवनयापन होता रहा। हमारी बस्ती की बाह्य सीमाओं पर, फीजियों का एक 'कोरो' (गांव) था : उसमें, पंक्ति से बने हुए छप्पर के घर थे जिनमें गहरे रंग के दरवाज़े और छोटी-छोटी खिड़कियां थीं और चारों तरफ साफ-सुथरा 'रारा' (हरी खुली जगह) थी। पर, आज भी, मैं यह नहीं जानता कि हम किस डर से उसके अंदर कभी नहीं गए। कभी-कभार कोई एक फीजियन, प्रिय पारिवारिक मित्र बन जाता, परंतु इसके आगे कुछ अधिक नहीं। हम बच्चों की कोई फीजी जान-पहचान नहीं थी। बिना किसी ठोस संबंध के, हम फीजियन बातों को, निष्क्रिय पूर्वाग्रह के समपार्श्व से देखते रहे। फीजियों में भी, हमारी तरह से अज्ञानता बनी रही।

अपने अन्य साथियों की तरह, मेरे पिता का संसार भी 'नेटिव लैण्ड ट्रस्ट बोर्ड', द्वारा, पट्टे पर ली गई दस एकड़ भूमि पर केंद्रित था। वह केवल एक पट्टा था क्योंकि हमें भूमि का स्वामित्व कभी नहीं दिया गया। अधिकांश भूमि फीजियों के हाथों में ही रही—पर हमने यह कभी नहीं सोचा की वह भूमि हमारी नहीं है और हमेशा हमारी नहीं रहेगी। यह विचार कि वह एक दिन अपने स्वामियों के पास वापस चली जायेगी —जैसा कि आज हो गया है—कभी हमारे दिमाग़ में ही नहीं आया। दस एकड़ के प्लाट का विचार सी.एस.आर. का था। शर्तबंध व्यवस्था के समाप्त होने के बाद कंपनी को श्रम की उपलब्धता की कमी हो गई और उसने गन्ना उगाने के स्थान पर पेषण का काम शुरू कर दिया। सी.एस.आर. बहुत चालाक थी। वह गन्ना उगाना छोड़ना चाहती थी परंतु उद्योग पर से अपना नियंत्रण नहीं। उसने तर्क दिया कि सीमित एकड़ों में, उचित प्रकार से कृषि करना, भारतीयों के लिए आर्थिक रूप से व्यवहार्य हो सकता है परंतु इतना नहीं कि उससे हमें आर्थिक सम्पन्नता मिल सके। उस दस एकड़ के फार्म पर हमने, गन्ना और धान उगाया, एक आध गाय पालीं, कुछ बकरियां, मांस के लिए मुर्गियां और घर के प्रयोग तथा पैसों के लिए पड़ोसियों को बेचने हेतु, सब्ज़ियां भी उगायीं। बस इतना ही। गांव के अन्य लोगों की तरह,

11. कोलोनियल कालीन अध्ययन हेतु देखिये मेरी, *ब्रोकेन वेव्ज़ : ए हिस्ट्री ऑफ द फीजी आईलैण्ड्स इन द 20 सेन्चुरी* (होनोलूलू, 1992).

हम बहुत आगे नहीं बढ़ सके, पर जीवन चलता रहा। अमेरिकी भूगोलज्ञ, जे. डब्ल्यू. कोल्टर, जिन्होंने लांगीरी में शोध कार्य किया था, ने, 1930 के दशक के अंतिम वर्षों और 1940 के प्रारम्भिक वर्षों में फार्म जीवन की दिनचर्या का बिल्कुल सही वृतान्त लिखा है :

> फीजी में भारतीय किसानों द्वारा किए गए नियमित कार्य, फीजियों के अनियमित और आरामपूर्ण जीवन के बिल्कुल विपरीत हैं। पूर्ववासी सुबह साढ़े पांच बजे उठता है, अपने बैलों को जोतता है और छः बजे से आठ बजे तक खेतों की जुताई करता है। घर में या खेतों पर वह रोटी और दूध या चाय का नाश्ता करता है (रोटी आटे से बनाई जाती है और फिर घी में तली जाती है)। तत्पश्चात, वह, दस बजे तक फिर जुताई करता है; उस समय उसके बैल खोल दिए जाते हैं ताकि वे दिन की गर्मी में साये में आराम कर सकें। दस बजे के थोड़ी देर बाद ही वह गायों को दुहता है और साढ़े दस से बारह बजे तक वह निराई और गुड़ाई करता है या मवेशियों के लिए, सड़क के किनारे या खाइयों में, चारा काटता है। दोपहर में वह दाल, चावल या दाल, सब्ज़ी और दूध का खाना खाता है। दोपहर के प्रथम पहर में वह फिर गुड़ाई करता है, और घास काटता है या घर के अन्य कार्य करता है। तीन बजे से पांच बजे तक जुताई का फिर काम चलता है। छः बजे, शाम के खाने में, वह चावल, सब्ज़ी, चटनी और दूध लेता है। मिट्टी के तेल के लैम्प के पास बैठकर धूम्रपान और कुछ बातचीत, आठ बजे तक, यानी सोने के समय तक, चलती है। शाम को, भारतीयों के समूह जो पूरे दिन खेतों पर काम करते रहे हैं, अपने खाने के डिब्बे लिए वापस घर आते हैं।[12]

स्थान और समय के साथ सूक्ष्म विवरण भिन्न होंगे, परंतु मेरी तरह के किसी भी अधेड़ मनुष्य के लिए, जो युद्ध के उत्तरार्द्ध में फीजी-भारतीय फार्म पर, पला-बढ़ा हो, एक जैसा ही होगा। डब्ल्यू. ई. एच. स्टैनर ने, 1940 के दशक के मध्य वर्षों में, फीजी के भारतीय समुदाय का गहन अध्ययन किया। उन्होंने समुदाय की कठिनाइयों और सपनों को चित्रित किया है। उन्होंने लिखा, हजारों परिवार 'व्यक्तिगत कर्ज़े के भारी बोझ में दबे हुए हैं', 'कृषक और श्रमिक बड़ी किफ़ायत से रहते हैं, बहुत कम आय के लिए घण्टों काम करते हैं, और ज़िंदा रहने के लिए भीषण रूप से बचत करते हैं—ताकि कर्ज़े और बंधक का पैसा अदा कर सकें, पूर्ण स्वामित्व की भूमि को खरीद सकें, कुछ पैसा भारत भी भेज सकें, रीति-रिवाज़ों के अनुसार खर्चीले सामाजिक दायित्व निभा सकें और फिर भी इतना बचा सकें कि बुढ़ापे में, वे, भारत

12. जॉन वेज़ले कोल्टर, *फीजी: लिटिल इंडिया ऑफ द पैसिफिक* (शिकागो, 1943), 93.

वापस जा सकें।[13] स्टैनर ने पाया कि सामाजिक क्षेत्र में जाति सीमाएं लगभग टूट चुकीं थीं।। 'उच्च और निम्न जातियों के लोग स्कूल या अन्य सभाओं में एक साथ उठ-बैठ सकते हैं, अविभाजित मोहल्लों में रह सकते हैं। जीविका पर लगे नियंत्रण, काफी हद तक बदल गए हैं। मुख्यतः ग्रामीण इलाकों के पुरुषों में पाश्चात्य पहनावा अधिक देखने को मिलता है। स्त्रियां अब चेहरे को ढक कर नहीं रखतीं और उनका पहनावा भी बदल गया है। पर्दा प्रथा समाप्त हो गई है। धार्मिक अनुष्ठान सरल और छोटे हो गए हैं, मुख्य रूप से शुद्ध करने का अनुष्ठान। हिंदू, मुस्लिम दूरी इतनी कम हो गई है कि दोनों धार्मिक समुदाय आपस में मित्रता के साथ सार्वजनिक समितियों में बैठते हैं, अधिकांशतः एक ही नीति अपनाते हैं, राजनैतिक रूप से आपस में सहयोग करते हैं (खासतौर पर शैक्षिक मामलों में) और सामाजिक स्तर पर खुले मन से आपस में मिलते हैं।'[14]

हमारे बाबा की पीढ़ी के कुछ पुराने रीति-रिवाज समाप्त हो रहे थे। स्त्रियों की कमी के कारण, बहुपति प्रथा जो शर्तबंध मज़दूरी के समय में प्रचलित थी, लिंग अनुपात के सुधरने और संप्रदाय के स्थिर होने के परिणामस्वरूप, लगभग समाप्त हो गई थी। एक विवाही प्रथा कड़ाई से मानी जाने लगी। इसका टूटना कभी-कभी हिंसा, यहां तक कि कत्ल में भी, परिणित हो सकता था। गिरमिट के समय, औरतों की कमी के कारण हिंदू, मुस्लिम विवाह भी होते थे और बर्दाश्त भी किए जाते थे पर गिरमिट के बाद यह प्रथा समाप्त हो गई। मेरे बाबा के समय प्रचलित बाल विवाह की प्रथा जो भारत के गांवों से ही आयी थी, भी समाप्त हो गई। 1961 में लड़कों के विवाह की आयु 16 से 18 वर्ष कर दी गई और लड़कियों के लिए 13 से 14, यद्यपि अधिकतर विवाह कानूनी आयु से बाद में ही होते थे। लड़कियों की शिक्षा पर अब भी विशेष ध्यान नहीं था। 1940 में केवल 11 प्रतिशत (1,430) लड़कियां प्राथमिक स्कूलों में जाती थीं। इसके मुकाबले में लड़कों के प्रारम्भिक स्कूल जाने की संख्या 20 प्रतिशत थी (3,607)।[15] दशक के साथ इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। उदाहरणार्थ, 1959 में प्रारम्भिक स्कूलों के 77,000 छात्रों में, 20,000 भारतीय लड़के और 15,000 भारतीय लड़कियां थीं। जीवनयापन के लिए न भी हो परंतु शिक्षा का महत्व, संप्रदाय के लोगों में घर करने लगा और जैसे-जैसे घर और संप्रदाय में औरत की भूमिका बढ़ने लगी, शिक्षा में, शेष, लिंग संबंधित व्यवधान, शीघ्र ही समाप्त हो गए।

13. डब्ल्यू. ई. एच. स्टैनर, *साऊथ सीज़ इन ट्रान्ज़िशन : ए स्टडी* ऑफ पोस्ट-वॉर रीहैबिलिटेशन एण्ड रीकन्सट्रक्शन इन थ्री *ब्रिटिश डिपेन्डेन्सीज़* (सिडनी, 1953), 179.
14. स्टैनर, *साऊथ सीज़ इन ट्रान्ज़िशन*, 1789-180.
15. कोल्टर, *ड्रामा ऑफ फीजी*, 107.

पट्टे पर लिया हुआ फार्म ही हमारे माता-पिता की एकमात्र सम्पत्ति थी। परंतु शुरू से ही यह साफ़ था कि सभी बच्चों का, छः लड़के और दो लड़कियों का, भविष्य उसमें नहीं है। हमें, दूसरे विकल्पों के बारे में सोचने के लिए प्रेरित किया गया। शिक्षा इस अन्वेषण की कुंजी थी। हमारे अभिभावकों ने समुदाय स्कूल शुरू किए—कोई बहुत विशिष्ट रूप से नहीं। वे छप्पर के 'बुरे' थे, जिनकी दीवारें बांस की होती थीं और गोबर का लेप ज़मीन पर लगा होता था। किसी दानवीर ग्रामीण द्वारा दी गई ज़मीन पर वे बनाए जाते थे। 1956 तक फीजी में 154 भारतीय स्कूल हो गए जिसमें से 129 सेटेलमेण्ट कमेटियों द्वारा नियंत्रित थे। गांव के कुछ पढ़े-लिखे, बड़े लोगों ने हिंदी और मूल गणित पढ़ाने का कार्य शुरू किया। इसके बदले में वे छात्रों से, घर और फार्म का, काम करवा लेते थे। निर्धन, अनपढ़ माता-पिताओं द्वारा अपने बच्चों के जीवन को बेहतर बनाने के प्रयास, भाव-विभोर करने वाले थे। समय के साथ और सरकारी सहायता के कारण परिस्थितियां सुधरती गईं। 1970 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में 500 से अधिक प्राइमरी और सेकण्ड्री स्कूल फीजी-भारतीय बस्तियों और अन्य संस्थाओं द्वारा चलाये जा रहे थे।

पिछले कुछ वर्षों से मेरी रुचि औपनिवेशिक ग्रन्थों को पढ़ने में है, ताकि मैं जान सकूं कि औपनिवेशिक-अधिकारी-जगत बच्चों में कौन-से आदर्श और लोकाचार जाग्रत करना चाहता था। हाल ही में, मुझे, 1930 के दशक में, फीजी के भारतीय प्राथमिक स्कूलों में प्रयोग हुई कुछ किताबों की प्रतिलिपियां प्राप्त हुईं। 1930 के एक *स्कूल जर्नल* से यह उदाहरण प्रस्तुत है।[16] उसमें भारतीय इतिहास से ली गई कहानियों और घटनाओं की चर्चा है : सिद्धार्थ, राम, हरिश्चंद्र, तुलसीदास, गुरू नानक और अन्य पौराणिक और अनुश्रुति हस्तियों के बारे में। उसमें, भारतीय चीज़ों पर अधिक ध्यान दिया गया है। यह महत्वपूर्ण बात थी; वह हमारी सामूहिक सांस्कृतिक प्रेषण बिंदु को दर्शाता था। सरकार चाहती थी कि भारतीय समुदाय अपनी सांस्कृतिक विरासत से जुड़ा रहे (तत्पश्चात् वे, शिकायत करते हैं कि भारतीय औपनिवेशिक समाज की मुख्य धारा से नहीं जुड़े)। *जर्नल* में, फीजी के बारे में अन्य कहानियां भी हुआ करती थीं—गवर्नर के भाषणों के अंश, भविष्य की घटनाओं की घोषणाएं, परंतु यह सब बहुत सूक्ष्म, रूखे और अरुचिकर रूप में होता था। साम्राज्य की कहानियां अधिक रुचिकर थीं। *हमारा साम्राज्य, क्लैरियन* एटलस पर लाल बिंदुओं द्वारा अंकित रहता था। कुछ किताबों में, समोआ और हवाई के भूगोल के बारे में भी बताया गया था। इसी तरह कैसेब्लैंका और डिटरॉयट की फोर्ड मोटर फैक्ट्री, और सफ़ेद कोकाटू आदि के बारे में भी लिखा रहता था। अच्छे नागरिक बनने के तरीके भी

16. विषय, ए. डब्ल्यू. मैकमिलन, लंदन मिशनरी सोसायटी के एक प्रचारक और भारतीय स्कूलों के इन्स्पेक्टर, ने मिल कर तैयार किए। उन्होंने फीजी आने से पहले भारत में काम किया था।

उसमें सिखाये जाते—कानून पालन करना, सत्ता के प्रति आदर रखना, और देशरूपी मां का उपनिवेशों में रहने वाले बच्चों के लिए कितना कुछ करने का, एहसास कराना। मक्का, केला और तंबाकू को उगाने के सबसे उत्तम तरीके, तूफ़ान और बाढ़ में एहतियात, कुओं को साफ़ रखने का महत्व, यह सब भी, लोगों को, स्वच्छ और स्वस्थ जीवन बिताने के लिए सिखाया जाता।

यदि आप, 1930 में, प्राथमिक स्कूल शिक्षक बनने के लिए, प्रशिक्षण ले रहे हों, तब अन्य बातों के साथ-साथ आपको यह भी जानना आवश्यक था कि चीनी लोगों के कौन-से दो गुण बहुत मशहूर हैं, ए.एन.ज़ेड.ए.सी., क्यों महत्वपूर्ण है, नाइजीरिया और फीजी के लोगों में क्या समानताएं हैं, यूनियन जैक का अस्तित्व कैसे स्थापित हुआ, ऑकलैण्ड में प्रसिद्ध इमारतों के नाम क्या हैं, धर्मदूत जॉन विलियम्स कहां पैदा हुए, डेविड लिविंग स्टोन की शिक्षा कैसे हुई, बचपन में, फ्लोरेन्स नाइटिंगेल, का क्या पसंदीदा खेल था, लैब्रेडॉर के बच्चों के बारे में जानकारी, न्यूयार्क की क्रिसलर इमारत का महत्व, बिल्ली के कितने पंजे होते हैं, आदि। अगर आप 1936 में, *प्राइमरी स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा,* में बैठ रहे हों, तो आपसे यह अपेक्षा की जाती थी कि आपको रोमन ब्रिटेन के उन गवर्नरों के नाम पता हों जिन्होंने घर, शहर, और बाज़ार निर्माण हेतु प्रेरित किया, उस ब्रिटिश सेनानायक का नाम जिसने 1917 में जेरूशलम जीता, सेनानायक वुल्फ के साथ ही कौन-सा वीर फ्रान्सीसी कमाण्डर मारा गया, कौन सहन द्वारा उपनिवेशित किए हुए रोमन साम्राज्य का नाम, ऑस्ट्रेलिया के सबसे ऊंचे पर्वत का नाम, न्यूज़ीलैण्ड का मुख्य निर्यात क्या है, सूवा से पहले फीजी की राजधानी क्या थी, बीमारी फैलाने के दो तरीके—इस तरह की, अत्यधिक आवश्यक, रुचिकर और प्रासंगिक बातें, पता होनी आवश्यक थीं। इस प्रकार की शिक्षा समुदाय के सर्वोत्कृष्ट चुने हुए लोगों, प्राथमिक स्कूली शिक्षकों के लिए थी। इसका उद्देश्य, छात्रों को 'शिक्षित' करना नहीं वरन्, उन्हें, औपनिवेशिक प्रशासकीय पहिये का दांता बनाना था। न्यायालयों के लिपिकों और सहायकों, ज़िले प्रशासन के दुभाषिया, के समकक्ष ही, समुदाय में, प्राथमिक स्कूली शिक्षकों का आदर और सम्मान था। मेरे पिता की पीढ़ी के अधिकांश लोग, केवल पत्र पढ़ने-लिखने और सरकारी दस्तावेज़ों पर हस्ताक्षर करने हेतु ही, जानकारी चाहते थे।

शिक्षा के अतिरिक्त, पहले की पीढ़ी ने, सामाजिक गतिशीलता के मार्ग में बाधाओं को दूर करने तथा जाति और अन्य मापदण्डों पर आधारित सामाजिक विभिन्नताओं को समाप्त करने हेतु अनेक उत्तम उपाय अपनाए। अपने बच्चों के नाम रखना इसमें से एक था। गिरमिटियाओं के नामों के आधार पर, एक सावधान प्रेक्षक, किसी के भी सामाजिक स्तर का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। निम्न और मध्यवर्गीय जाति वालों के नाम, चीज़ों, दिनों और महीनों पर आधारित होते थे। वे, एक विशेष भावना, घर या गांव में, जन्म के समय हुई कोई ख़ास घटना या परिस्थिति, पर

भी रखे जाते थे।[17] इसलिए ऐसे नाम हुआ करते थे—जैसे दुखिया और बिपति (दुख / विपत्ति), गेंदिया और फुलबसिया (फूलों से), हंसा (काल्पनिक पक्षी), भोला, भुल्लर और जोखू (सरल हृदय), मंगल, बुधई, सनीच्चरी, मंगरू, सोमई, सुक्खू (सप्ताह के दिनों पर), गुलाब और गुलाबी (रंग से), बहादुर, शेरा, सुंदर (गुणों से)। अन्य नामों का कोई विशेष महत्व नहीं होता था। जैसे कालपी, बिसुन, ताहुल, जैतू, झिनुल, छगुन, अलीमूला, उल्फत, चैतू, उमरई। इसके विपरीत, गिरमिटियाओं ने अपने बच्चों के नाम देवी-देवताओं और महान पौराणिक व्यक्तियों पर रखे, जिसका उद्देश्य पुराने तरीके को खत्म करना था ताकि नाम से जाति का पता न चल सके। ऐसे नाम मेरे पिता की पीढ़ी में अधिक थे : राम प्रसाद, राम सरन, राम औतार, अर्जुन, हरी प्रसाद, राम प्यारी, भोलानाथ, बिहारी प्रसाद, गंगादीन, जमुना प्रसाद, सुखराजी, सूरजपती, शिवलाल, माता प्रसाद, तोताराम। कोई यह नहीं बता सकता था कि राम प्रसाद चमार है या कुर्मी। उच्च वर्ग के लोग अपनी जाति का नाम भी रखते थे—शर्मा, सिंह, मिश्रा,—यद्यपि कभी-कभी सामाजिक श्रंखला में उनसे नीचे के वर्ग भी यह नाम अपना लेते थे। विशिष्टता को पाने का प्रयास जारी था। हमारे माता-पिता ने अपने बच्चों का नाम फ़िल्मी सितारों और मानी-जानी हस्तियों पर रखा—राजेंद्र प्रसाद, राज कुमार, जवाहर लाल, दिलीप चंद्र, विजय सिंह, राजेश चंद्र, महेंद्र कुमार, सतीश चंद्र, सुरेंद्र प्रसाद, सुनील कुमार, बिमन प्रसाद—और इस तरह जाति विभाजनों की आख़िरी निशानियां भी समाप्त हो गईं। उनके बच्चों के नाम इस प्रकार हैं—शैलेशनी, रविनेश, रोहितेश्वर—ऐसे नाम जो हमारे माता-पिता और बाबा-दादी पहचान ही नहीं पाएंगे।

फिर भी, कुछ क्षेत्रों में विभाजन और विभिन्नताओं को स्थायी रूप दिया जा रहा था। यह बात मुख्य रूप से सांस्कृतिक और धार्मिक अस्मिता के क्षेत्र में देखी जा सकती थी। 1920 में, शर्तबंध मज़दूरी के समाप्त होने के बाद अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का जन्म हुआ जिनका उद्देश्य, तेज़ी से स्थापित हो रहे, फीजी-भारतीय संप्रदाय, को कुछ स्थायित्व प्रदान करना था। आर्यसमाज और सनातन धर्म बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थापित हो गए थे परंतु मुस्लिम लीग और संगम जो दक्षिणी भारतीय संप्रदाय का एक छतरी संघ था, 1926 में स्थापित हुए। जैसे-जैसे समुदायों ने अपनी जड़ें मज़बूत कीं वैसे-वैसे विभिन्न वर्ग, उचित धार्मिक व्यवहार और रीति-रिवाज़ों के उचित प्रकार से पालन हेतु जुट गए। झगड़े शुरू हो गए। समाजी, जो स्वामी दयानंद सरस्वती के शिष्य थे और हिंदुत्व की सुधारित शाखा से संबंध रखते थे, अधिक रूढ़िवादी, रीति-रिवाज़ों को मानने वाले, मूर्तिपूजा करने वाले, सनातनियों से लड़ पड़े।[18] शिया और सुन्नी इस बात पर लड़ पड़े कि पैगंबर मोहम्मद

17. मैं हिंदू नामों का प्रयोग कर रहा हूं क्योंकि मुझे मुस्लिम नामों की निरुक्ति नहीं पता है।
18. देखिये जॉन केली, *ए पॉलिटिक्स ऑफ वर्च्यू, सेक्सुएलिटी एण्ड काउन्टरकोलोनियल डिस्कोर्स इन फीजी* (शिकागो, 1991).

के उचित उत्तराधिकारी उनके अपने परिवार के सदस्य थे (उनके दामाद, अली और पुत्र हुसैन और हसन) या खलीफ़ा। हिंदू-मुस्लिम तनाव, जो विश्वयुद्धों के अन्तराल में, उप-महाद्वीप की राजनैतिक घटनाओं को प्रतिबिंबित कर रहे थे, वे दृष्टिगोचर तो हो रहे थे परंतु थमे हुए थे। जैसे-जैसे विभाजन कठोर होते गए और खान-पान एवं पूजा संबंधी कानून सख़्त होते गए, वैसे-वैसे प्रारम्भिक वर्षों में उत्पन्न आपसी सौहार्द और मित्रता, 'जब सब भाई-भाई थे', क्षीण होने लगा। धार्मिक गुरुओं के आने से भी, इसको बढ़ावा मिला। समय के साथ, धर्म, पहचान का एक मुख्य स्रोत बन गया। अन्य सूचक, जैसे क्षेत्रीय स्रोत आदि, समाप्त हो गए। और, आज भी यही स्थिति है।

विश्वयुद्ध के उत्तरार्ध में, मेरे पिता के समय का सिमटा हुआ और सामाजिक रूप से अलगाया संसार टूटने लगा। जो बातें मेरे पिता के साथियों को प्रेरित करती थीं, उन्हें, समुदाय के अन्य गुटों के साथ, कटु वाद-विवाद में उलझाती थीं, उनके समय और अस्तित्व को स्थापित करती थीं, उन्हें अर्थ और लक्ष्य देती थीं—हमारे लिए कम महत्व रखती थीं। हम में से, अधिकांश लोगों के लिए तय शादियां बीती बात हो गईं हैं, साथ ही बड़े परिवार भी (पहले, तेरह का आंकड़ा सामान्य रूप से देखा जा सकता था।) हमारे लिए, आज, सीमित समय में दिन की शादियां मानक बन गई हैं। परंतु, पहले ऐसा कोई सोच भी नहीं सकता था। उस समय प्रतिष्ठित परिवारों में सप्ताह भर के विवाह उत्सव से कम का उत्सव, बहुत बुरा माना जाता था। सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन में, महिलाओं की भूमिका के बारे में, हमारे विचार, पुरानी पीढ़ी के साथ मेल नहीं खाते। प्रियजन की मृत्यु पर सिर और चेहरे के बाल मुड़वाना ज़रूरी था परंतु सख़्ती से लागू नहीं किया जाता था। खान-पान संबंधी संहिताएं भी शहरी इलाक़ों में टूट रहीं थीं—थोड़ी बियर चलने लगी यद्यपि मांस बिल्कुल नहीं। जब देश में बैंकों ने अपना जाल बिछाया, तब गांव के महाजन, जो पहले, समाज में, बहुत हानिकारक प्रभाव जमाये हुए थे, अब कल की बातें रह गए हैं। 1940 के दशक का सबसे बड़ा विवाद, फीजी-भारतीय संप्रदाय पर शराब बंदी लागू की जाय अथवा नहीं—ऐसा विवाद जिसने लोगों को विभाजित किया और कइ राजनैतिक जीवन नष्ट कर दिए—हमारे लिए कोई मायने नहीं रखता था। हमें, इससे सरोकार नहीं था, कि हम, हलाल का मांस खा रहे हैं या झटके का,—जबकि बीते दिनों में इस विषय ने हिंदू-मुस्लिम संबंधों में काफ़ी तनाव पैदा किया था। इसी तरह, हमारी पीढ़ी के लोगों को, सनातनियों द्वारा आर्यसमाजियों को राम-राम की जगह नमस्ते करना, उनकी हार की निशानी है या नहीं, यह सब बात करना बड़ा ओछा प्रतीत होता था। बड़ा दिन—क्रिसमस—पीने-पिलाने, खुशियां मनाने, ताज़े बकरे का गोश्त और रम पीने का बहाना बन गया। केवल बहुत निर्धन लोग ही उस दिन मुर्गा या बत्तख़ खाते थे। यह उत्सव हमारे कैलेण्डर में वार्षिक उत्सव बन गया।

हम 'नई भाषा' बोलने लगे थे। मेरे पिता के समय के शब्द और विचार, अब बिसराये जा चुके थे : कक्कुस (प्रसाधन), भुच्चड़ (बुद्धू), छछूंदर (चोचलेबाज़ स्त्री), भोंग (बेवकूफ), बेहूदा (मूर्ख), जहुआ (ठग), लोकुम (जेल), बैलप (मवेशी की जगह), ब्लैक मारिया (पुलिस वाहन), बग्रप (बगर्ड अप), लिफाफा (इनवेलप)। हमें पता ही नहीं था कि तनज़ेब, नयनसुख, मोतिया क्या होता है—एक समय में यह स्त्रियों के गहनों के नाम हुआ करते थे। शादी-विवाह के अवसरों पर, मन हल्का करने के लिए, नाचा जाने वाला लंहगा नाच (महिला वेषी पुरुष नृत्य), गुटका (डाण्डी नृत्य) जो त्यौहारों पर किया जाता था, तासा, हुदुदा, नगाड़ा (लोक संगीत के वाद्य यंत्र), सब हमारे बीते हुए अतीत का हिस्सा थे।

अपने पिताओं की तरह हमें औपनिवेशिक अधिकारी जगत से शराब पीने के लिए अनुमति प्राप्त करने की ज़रूरत नहीं थी। ऑबरे पार्क, उस समय लबासा के ज़िला कमिश्नर थे, जब मैं, 1960 के दशक में अपनी प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर रहा था। उन्होंने, मुझे बताया कि अनुमति भी बहुत तरह की होती थीं : एक अनुमति, आपको, पब में, केवल बियर और स्प्रिट पीने की इज़ाज़त देती थी। अगर आप समाज में कुछ हैं तो दर्जन भर बियर और स्प्रिट की बोतलें एक माह में खरीद सकते थे—दर्जन और एक की प्रथा के अनुसार। हमारा किशोरावस्था का संसार लुप्त हो गया है। टूटी-फूटी यादों से रचे-बसे सांस्कृतिक संसार का समाप्त होना पुरानी पीढ़ी के लिए बहुत दुःखदायी था। पर वे इस संबंध में कुछ कर भी नहीं सकते थे।

सुधरते हुए यातायात के साधन—बेहतर सड़कें, पुल, नियमित सार्वजनिक परिवहन—ने हमें, गांवों के पार, विस्तृत विश्व से जोड़ा। 1950 के दशक में रेडियो और हिंदी समाचार पत्र आए—जागृति, जय फीजी, शान्ति दूत, किसान मित्र। और फिल्में : आलमआरा, अनारकली, बैजूबावरा, आवारा, श्री 420, जागते रहो, प्यासा, मदर इंडिया, गंगा—जमुना।[19] 1930 के दशक से ही फीजी में हिंदी फिल्में आ रहीं हैं—1940 के बाद, 10 में से 8 सिनेमाघर, फीजी-भारतीयों के थे—पर उनमें सिनेमा देखने के लिए अधिकांश रूप से शहरी लोग ही आते थे। 1960 के दशक में, पिक्चर देखने जाना, एक मुख्य सामाजिक घटना हुआ करती थी। वह, कपड़े और गहनों की प्रदर्शनी का मौका भी हुआ करता था, समाज के जाने-माने लोगों से मिलने का मौका और समुदाय में कौन क्या है, जानने का अवसर। हिंदी समाचार पत्रों, हिंदी फिल्मों, धार्मिक अनुष्ठानों ने जो हम सांसारिक नियमित्ता से करते थे—हमें समुदाय के रूप में बांधे रखा तथा हमें एक लक्ष्य और जुड़ाव दिया। गांवों में रहने वाले, हम जैसे लोग, अपने को शहरी लोगों से उच्च समझते थे क्योंकि हम अपनी सांस्कृतिक

19. देखिये सुब्रमनि, *ऑल्टरिंग इमैजिनेशन* (सूवा, 1995) और विजय मिश्रा, *बॉलीवुड सिनेमा : टेम्पिल्स ऑफ डिज़ायर* (न्यूयॉर्क, 2002).

जड़ों से अब भी बंधे थे जबकि वे लोग, ऐसा प्रतीत होता था कि उनसे दूर हो गए हैं और उन्होंने पाश्चात्य तौर-तरीके अपना लिए हैं।

हमारी पीढ़ी जीवन से अब कुछ अधिक ही चाहने लगी थी। 1960 के आरंभिक वर्षों से ही, प्राथमिक शिक्षा, जिसे अधिकांश बच्चे पाना चाहते थे, प्राप्त हो रही थी और जिन्होंने एन्ट्रेन्स परीक्षा उत्तीर्ण की उनके लिए सेकन्ड्री शिक्षा भी सुलभ थी। हम, अगर थोड़े-बहुत भी अच्छे थे--और हमारी 'अच्छाई' बाह्य परीक्षाओं में हमारे प्रदर्शन, पर ही आधारित थी, तब हम, आज, सार्वजनिक सेवाओं में, बैंकिंग जगत में, ट्रेनी ओवरसियर के रूप में चीनी उद्योग में और शिक्षा क्षेत्र में, एक छोटी-मोटी नौकरी की आशा रख सकते थे। हमारे माता-पिता, इन संभावनाओं के बारे में सोच भी नहीं सकते थे। 1960 के शुरूआती सालों में विश्वविद्यालय की विद्या कुछ लोगों तक ही सीमित थी--वर्ष में, शायद, केवल दस लोग ही हाईस्कूल शिक्षक, प्रशासक और आर्थिक विशेषज्ञों की ट्रेनिंग प्राप्त करने के लिए, सरकारी अनुदान पर न्यूज़ीलैण्ड भेजे जाते (ऑस्ट्रेलिया तो बहुत ही कम)। जो समुद्र पार से कुछ दिनों बाद वापस आते, वे चुने हुए खास लोग हुआ करते थे--सांस्कृतिक रूप से आत्मविस्मृत हो गए, समाज के लिए अनुपयुक्त, अपनी भाषा के प्रयोग में असमर्थ, अपने ही लोगों के बीच संवादहीन, और कुछ तो अपने अतीत के लिए भी शर्मदार। हम सबको, एक लड़के के बारे में, जो समुद्र पार से मेमिया (यूरोपियन पत्नी) ले आया था, की अप्रामाणिक कहानी सुनाई जाती थी। उसने लौटकर, जहाज़घाट पर शर्मिंदगी के कारण, मामूली वस्त्र पहने अपने अनपढ़ पिता को पहचानने से इनकार कर दिया था। अपनी विलक्षणताओं के बावजूद, समुद्रपार से पढ़-लिख कर आए लोगों ने हमारे युवा मस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ी। हमें एहसास दिलाया कि यदि हम भरसक प्रयत्न करें, तो हमें भी ये अवसर प्राप्त हो सकते हैं। कई तो हमारे आदर्श बन गए--परंतु उनके अतिशयोक्तिपूर्ण पाश्चातीयकरण ने हमें प्रभावित नहीं किया।

यह सब, 1968 में, साउथ पैसिफिक विश्वविद्यालय के स्थापित होने के कारण बदल गया। यह घटना, प्रशांत महासागर के द्वीपों के आधुनिक इतिहास में एक बहुत महत्वपूर्ण मोड़ बनी। उसने गरीब घरों के हजारों बच्चों के लिए उच्च शिक्षा के दरवाज़े खोले। उसके बिना उन्हें ऐसा मौका नहीं मिल सकता था। उसने, हमें फीजी और प्रशांत द्वीपों के अन्य भागों में रहने वाले लोगों से जोड़ा। तब तक, उनके नाम, कागज़ पर रहस्यमय और कभी-कभी धमकी देते हुए शब्द ही प्रतीत हुआ करते थे--इससे अधिक कुछ नहीं। क्षेत्र के एक संकटकालीन समय में, एक नई पीढ़ी परिपक्व हो गई थी--जब द्वीप स्वतंत्रता के कगार पर खड़े थे। हम प्रशिक्षित थे और अपने देश और क्षेत्र के भविष्य में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए निमित्त थे।

अपने माता-पिता की तुलना में हमारा संसार अधिक विविध था। जो ईसाई या शहरी स्कूलों में पढ़े उन्होंने हिंदी गवां दी। वे आधुनिक प्रभावों से प्रभावित हुए

और अन्तरसांस्कृतिक मित्रता उनके लिए आसान सिद्ध हुई। हम में से जो ग्रामीण स्कूलों या फीजी-भारतीय संस्थाओं द्वारा संचालित स्कूलों में पढ़े, वे अधिक सुदृढ़ रूप से अपनी संस्कृति और भाषा से जुड़े रहे। मुझे अब एहसास होता है कि इसका बहुत लाभ हुआ है। परंतु, इस शिक्षा ने हमें सीमित भी किया। जैसे हम (दोनों लड़के लड़कियां) पूर्ण रूप से भारतीय स्कूलों में ही पढ़े वैसे ही फीजियन बच्चों ने फीजियन विद्यालयों में ही शिक्षा प्राप्त की—क्वीन विक्टोरिया और रातू कादवूलेवू। 1960 में, जब मैं दूसरे ग्रेड में पढ़ रहा था तब 325 फीजी प्राथमिक स्कूलों में, केवल 88 अफ्रीजियन स्कूल थे और सिर्फ 53 अभारतीय लोग भारतीय प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ रहे थे।[20] इस तरह, हम अपने ही संप्रदाय के लोकाचार में उलझ कर, बड़े हुए। हम, अन्तरसांस्कृतिक प्रभावों से अछूते, फीजियों के मूल्यों, स्वार्थों और चिन्ताओं से पूर्ण रूप से अनभिज्ञ, उनके समाज की जटिल, आंतरिक लहरों के प्रति उदासीन, ही रहे। इसके बावजूद, हम एक ऐसी पीढ़ी का हिस्सा थे, जिसको औपनिवेशिक काल के उत्तरार्ध में राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का दायित्व सौंपा गया था—शिक्षक, प्रशासक, राजनेताओं के रूप में। अतः, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि अपनी हाल की यात्राओं में, क्या फीजी अनेक बार लड़खड़ाया!

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले, हाईस्कूल पास करने तथा औपनिवेशिक पाठ्यक्रम पढ़ने वाले फीजी स्कूली बच्चों में, हमारी पीढ़ी आखिरी थी। 1960 के दशक के अंतिम वर्षों में न्यूज़ीलैण्ड एन्ट्रेन्स देने से पहले, सब बच्चे सीनियर केंब्रिज की परीक्षा देते थे।[21] हम भूगोल, इतिहास, अंग्रेज़ी और विज्ञान पढ़ते थे। मैं, भूगोल में अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाता था क्योंकि कई बातें मुझे याद ही नहीं रहती थीं, जैसे, ऑस्ट्रेलिया के सबसे ऊंचे पर्वत का नाम। मुझे पता था कि वह 'क' से शुरू होता था परंतु यह पक्का नहीं रहता था कि वह कोसिसको था या किलिमन्जारो' कूलगार्दी या कालगूली, हमें उलझन में डाल देता। और कितनी भी हम कोशिश कर लें, मर्रमबिडजी का वर्णविन्यास, हमें नहीं याद हो पाता था। वह किस तरह का नाम था?, न्यूज़ीलैण्ड में लिबरल पार्टी के उदय, वहां की खेती में प्रशीतन उद्योग का प्रयोग, वेकफील्ड योजना, माओरी युद्ध (तब उनका यही नाम था), जॉन मैकआर्थर, मरीनों भेड़ और आबादकार, विक्टोरियन सोना दौड़ के प्रभाव और तेज़ी से बढ़ते ऊन उद्योग, के बारे में, निचले ग्रेडों में, इतिहास में, हमें पढ़ना पड़ता था। तत्पश्चात्, हम, आधुनिक इतिहास के प्रसंग पढ़ते—इटली और जर्मनी के एकीकरण, क्रिमियन संकट और प्रथम विश्वयुद्ध, बॉल्शेविक क्रान्ति, एडोल्फ हिटलर और मुसोलिनी का उदय। सेकण्ड्री स्कूल की, अंग्रेजी कक्षाओं में, हम विश्व साहित्य की विशिष्ट पुस्तकें पढ़ते—जॉन स्टीन्बेक

20. सर ऐलन बर्न्स, फीजी (लंदन, 1963), 230.

21. मैंने इस पर विस्तार से, *मि. तुलसी स्टोरः ए फीजियन जर्नी*, में लिखा है।

के उपन्यास, लघु कहानियां, कविताएं और नाटक (द पर्ल), विलियम गोल्डिंग (लॉर्ड ऑफ द फ्लाईज़), एमिली ब्रोन्टे (वदरिंग हाईट्स), जोज़फ कॉन्रेड (लॉर्ड जिम), विलियम वर्ड्सवर्थ (डैफ़ोडिल्स), सैम्यूल टेलर कोलरिज (एनशेन्ट मैरिनर), एडगर ऐलन पो (रेवन), डी.एच. लॉरेन्स (द स्नेक), विलियम शेक्सपियर (हैमलेट, मैकबेथ, मर्चेन्ट ऑफ वेनिस, रोमियो एण्ड जूलियट), टी.एस. एलियट (लव सांग ऑफ जे. एल्फ्रेड प्रूफ्रॉक)। सूची बढ़ती ही जाती है।

पढ़ने से, हमारी कल्पना का क्षितिज विस्तृत हुआ और उसमें, हमें, बहुत मज़ा भी आता था परंतु छोटी रचनाओं को लिखना मुश्किलें पैदा करता था। उदाहरण के लिए, आधुनिक कला, एस्ट्रोनोटों, पाश्चात्य फिल्में, कोर्सो हेतु एकत्र करने के लिए बोतल अभियान, पुष्प-प्रदर्शनी का मुख्य स्टैण्ड, टेलीविज़न का पक्ष और विपक्ष (यह तब, जब हमें यही नहीं पता था कि यह किस जीव का नाम है!), पर्वतारोहण, बच्चे की देखभाल, और तो और एक शरद ऋतु की सुबह—और वह भी, गर्म और नम, ताबिया में!— इन सबके बारे में, एक लंबा तथ्यपूर्ण अनुच्छेद लिखना कठिनाइयां पैदा करता था। कुछ वर्षों पूर्व, मैं, एक फीजी-भारतीय से, ब्रिसबेन में मिला, जिसने 1960 के दशक के मध्य वर्षों में, सीनियर केंब्रिज की परीक्षा दी थी। उसमें उसे, 'बीटल्स के चमत्कार' पर एक निबंध लिखना था। बीटल्स—संगीतकारों का समूह। वर्णविन्यास पर ध्यान न देकर, उसने, एक लंबा और तथ्यपूर्ण अनुच्छेद (उसके अनुसार) 'राईहनॉसरेस बीटलों के चमत्कार' पर लिख डाला। इस तरह की गल्तियां करके, हमारा पास हो जाना और वह भी अच्छे अंकों से, एक चमत्कार ही था।

हम, इतिहास और साहित्य में, मनुष्य अनुभवों की विश्वस्तरीय जानकारी पाते थे। विश्व के महान लोगों के सृजनात्मक प्रतिभाओं का हमें ज्ञान दिया जाता, पर मुझे इसका विश्वास नहीं है कि जो कुछ हम पढ़ते थे, वह सब हमें समझ में आ ही जाता था। विषय के तथ्य हमारे लिए अपरिचित होते। हम निर्धारित मापकों के अनुसार पढ़ते; परीक्षाओं को पास करने हेतु हमसे रटने की अपेक्षा की जाती। पुस्तकों द्वारा खोले गऐ नये संसार का अनुसंधान, हम नहीं करते थे। औपनिवेशिक शिक्षा के महत्व को याद करना हमें सिखाया जाता था, उस पर प्रश्न करना नहीं। फिर भी, अपने सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के बावजूद, पाश्चात्य पुस्तकों ने हमारे लिए एक नया संसार खोला। उन्होंने, हमारी कल्पना को उड़ान दी, संस्कृति और जाति की सीमाओं से हट कर समान मनुष्यत्व पर ज़ोर दिया और भविष्य की संभावनाओं के बीज बोये। मानव जाति की मूल रूप से एकरूपता, जो मुझे, जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में सिखाई गई, आज भी मेरे साथ है। अतः, औपनिवेशिक पुस्तकों को, तोते की तरह रटने का, मैं, विरोधी नहीं हूं; जो खिड़की उन्होंने खोली उसके लिए मैं आभारी हूं।

हमारे सांस्कृतिक रूपकों और हमारे अतीत के संकेतों का, उच्च औपनिवेशिक शिक्षा में, कोई स्थान नहीं था। प्राथमिक स्कूल में, हमने हिंदी पढ़ी थी और अपने

पूर्वजों की संस्कृति और इतिहास, विभिन्न देवी-देवताओं और भारतीय इतिहास के नायक और नायिकाओं के बारे में भी जाना था। हमें भाषा का इतना ज्ञान हो गया था कि हम रामायण और हिंदी समाचार पत्र अपने अनपढ़ माता-पिता को पढ़ कर सुना सकते थे। भाषा ने हमें अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जोड़ा। फीजी -भारतीय स्कूली बच्चों ने हमारी संस्कृति को बनाए रखने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1960 के दशक के अंतिम वर्षों में, हाईस्कूल में, हिंदी नहीं थी। आज मुझे उसका पछतावा है। परंतु, उस समय कोई फर्क नहीं पड़ा था। व्यक्तिगत प्रयासों से मैं हिंदी पढ़ता, लिखता और बोलता रहा हूं। पर जिन्होंने हिंदी नहीं पढ़ी, उनकी हानि स्पष्ट है। कुछ लोग, आज, अपनी अधेड़ आयु में, भाषा को सीखने का प्रयास कर रहे हैं। उनका व्यक्तिगत संघर्ष, मर्मस्पर्शी है।

पाठ्यक्रम में फीजियन संस्कृति और इतिहास का बिल्कुल न होना, मेरे लिए अधिक दुःखदायी है। अकसर, हम, कुख्यात, नरभक्षी, उद्रे-उद्रे, के बाल खड़े करने वाले, किस्से सुना करते थे। उसने, तथाकथित रूप से एक सौ मनुष्यों को खाया था, और हर दावत की गिनती के लिए, वह ढेर में एक और पत्थर डाल देता था। माफू के बारे में भी हम जानते थे। वह एक चालाक टोंगा निवासी था, जिसने फीजी को विजयी करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। और काकोबो जिन्होंने बड़ी शालीनता से द्वीपों को ग्रेट ब्रिटेन को समर्पित कर दिया था। बस इतनी ही जानकारी थी। अधिकांश रूप से फीजी लोग हमारे लिए डर और शक का कारण ही बने रहे। खीजी हुई माताओं द्वारा, उनके नाम, बच्चों में भय उत्पन्न करके, उन्हें सुलाने के लिए उपयोग में लाये जाते। हमारे लिए, सभी फीजी लोग, एक से ही थे। कुछ समय पहले तक भी, मुझे, फीजी समाज के आंतरिक गठन, उनके रीति-रिवाज़, पदानुक्रम के तरीके, और उनके निश्चित नयाचार, उनके राजनैतिक विभाजनों और तनावों के बारे में, कुछ नहीं पता था। मुझे विश्वास है कि यही हाल फीजियों का फीजी-भारतीयों के संदर्भ में था। वे उन्हें 'काई ईदिया', अर्थात् वह समूह जिसका अतीत दासता से जुड़ा हो, मानते थे। उनमें से कई लोगों के लिए गुजराती और गिरमिटिया, कुर्बिस और मद्रासी, सब एक थे। परंतु औपनिवेशिक राज्य के बाद की पीढ़ी, फीजियों की अधिक जानकारी रखती है। इसके लिए, कई अन्तर्जातीय प्राथमिक और सेकन्ड्री स्कूल, सूवा का सर्वजातीय विश्वविद्यालय, और कार्यस्थलों और संप्रदाय में अधिकाधिक सामाजिक मेल-मिलाप, उत्तरदायी हैं। अपने रुख और संबंधों में, अपनी आदतों और भावनाओं में, फीजी-भारतीय अपनी भारतीयता को बनाए रखने के साथ-साथ अब फीजीत्व के प्रति अधिक संवेदनशील हो रहे हैं और अपनी दोहरी पहचान के प्रति सजग भी।

प्राथमिक और माध्यमिक पाठ्यक्रमों में फीजियन इतिहास के बारे में बहुत कम बताया गया था। परिणामस्वरूप बच्चों की कई पीढ़ियां, अपने अतीत को बिना

जाने ही बड़ी हो गईं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इतिहास–कला संकाय के लगभग सभी विषय–पिछड़े हुए बच्चों के लिए ही थे–तेज़ बच्चे विज्ञान पढ़ते थे। परंतु, मेरे अनुसार, पाठ्यक्रम में फीजी के न होने का एक और कारण था। देश के अतीत के बारे में कोई सामंजस्य नहीं था। उसके तथ्यों के संदर्भ में कोई सर्वसम्मति नहीं थी। औपनिवेशिक नीतियों के कारण एक फीजी नहीं वरन् तीन फीजी थे–फीजियन, फीजी-भारतीय और यूरोपियन। प्रत्येक का, औपनिवेशिक राज्य में, अपना अलग स्थान। एक समूह औपनिवेशिक राज्य के गुण गाता था तो दूसरा उसके विरुद्ध था। एक जाति के आधार पर राजनैतिक संस्कृति को विकसित करना चाहता था तो दूसरा धर्मनिरपेक्षता और समानता पर। एक, सर्वोच्चता को राजनैतिक संबंधों का आधार मानता था, दूसरे को समानता चाहिए थी। एक भूस्वामी था, दूसरा भूमिविहीन था। ऐसे ही अनेक विभाजन थे। अतः, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि शिक्षण अधिकारियों ने पुस्तकों से इतिहास को सम्पादित कर दिया। किसी और के इतिहास के बारे में जानना अधिक सुरक्षित था। फीजी ने अपने इतिहास की अज्ञानता का एक बहुत बड़ा मूल्य चुकाया है।

फीजी-भारतीय बच्चों के लिए, शिक्षा, सामाजिक परिवर्तन का एक अभूतपूर्व साधन बनी, जैसे शर्तबंध मज़दूरी, गिरमिटियाओं के लिए। पदानुक्रम को समतल बनाने में स्कूल की कक्षाओं ने बहुत योगदान दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व, शिक्षा पर, विशेषकर उच्च शिक्षा पर, सम्पन्न और अच्छे संबंधों वाले फीजी-भारतीय संप्रदाय का एकाधिकार था। धन, सामाजिक स्तर और सत्ता, सम्पत्ति के स्वामित्व और अधिकारी जगत की निकटता से प्राप्त होता था। पहली पीढ़ी के नेता इसी अधिकारयुक्त पृष्ठभूमि के थे। परंतु शैक्षिक अवसरों के विस्तृत होने से निर्धन और साधारण घर के बच्चों के लिए भी रास्ता खुल गया। प्रवीणता और योग्यता, सफलता और शक्ति पाने के सोपान बन गए। यह स्थिति आज भी है। पुराने, सुदृढ़ रूप से स्थापित परिवार, जिनका नाम उच्च स्तर और दुनियादारी से जुड़ा था और जो अपनी प्रसिद्धि और ऐश्वर्य के लिए जाने जाते थे, अब लुप्त हो गए हैं और बिसराये जा चुके हैं।

हमारे बड़े होने के साथ-साथ हमारे माता-पिता का संसार और उसके विभिन्न अंग विस्मृत होने लगे–उनका संयुक्त परिवार, समय-समय पर रीति-रिवाज़ों का उचित पालन, आश्वस्त बंधनों में बंधा एक संबद्ध समुदाय, पारिवारिक एकता, आयु और सत्ता के प्रति आदर, धन संचालन में अत्यन्त सावधानी और अनिश्चितता के प्रति एक स्वस्थ सतर्कता। जिस तरह से उनके और उनके माता-पिता के बीच दूरी बढ़ी थी उसी प्रकार से, समय के साथ-साथ, यह दूरी भी बढ़ गई। परिवर्तन अवश्यम्भावी था और मुक्तिदायक भी। आज भी है। गतिशीलता के बढ़ने से और जीवन के हर पहलू के आधुनिकता द्वारा प्रभावित होने से, फीजी-भारतीय अपनी जटिल और परस्पर-विरोधी पहचान से धीरे-धीरे अवगत हो रहे हैं। जातीय राजनीति से नष्ट समाज

में रहते हुए, वे, अपनी भारतीय सांस्कृतिक विरासत की जड़ों का पोषण करते हैं। यह उनके लिए गर्व और प्रसन्नता की बात है। यद्यपि उनमें, रीति-रिवाज़ों के प्रति अपने माता-पिता और दादा-दादी जैसी श्रद्धा नहीं है। भारतीय संगीत, पहनावा, खान-पान और कला, एक अलग दृष्टिकोण से आंके जा रहे हैं। यह दृष्टिकोण आधुनिकता और विश्वव्यापकता से प्रभावित है। यह प्रभाव पहले की पीढ़ियों में नहीं था। पाश्चात्य सांस्कृतिक मूल्य, जिनसे हमारे पूर्वज अनभिज्ञ थे, अब अपनाये और समायोजित किए जा रहे हैं—अनेक कारणों में, नये अवसरों का प्राप्त होना शामिल है।

समय के गलियारों से, यदि हमारे पूर्वज देखें, तो वे, आश्चर्यचकित रह जाएंगे कि किस तरह से उनके उत्तराधिकारियों ने, अपने पूर्वाग्रहों पर विजय पाकर, देशी अतीत से, गहन रूप से जुड़े समाज के लोकाचार और नियमों को अपनाया है। ऐसा करने में, वे, या तो असफल रहे थे या उनमें ऐसा करने की चाहत ही नहीं थी। सामाजिक और आर्थिक प्रगति की प्राप्ति देख कर वे हैरत में पड़ जाएंगे। अपने उत्तराधिकारियों में वही असुरक्षा और चिन्ता जो उन्हें भी फीजी में घेरे रही थी, को देखकर, वे दुःखी भी होंगे। उन्हें, उन गन्ने के खेतों को वीरान होते देखकर भी दुःख होगा, जिन्हें उन्होंने, बड़ी कठिन परिस्थितियों में, अपनी भरसक मेहनत से, हरा-भरा किया था। पट्टे खत्म होने के कारण और भूमि से लोगों को बेदखल करने के कारण, आज, इन्हें छोड़ने को विवश हैं ; पीढ़ियों के प्रयास का यह अन्त। अपने पोतों और पड़-पोतों को साहबों की भूमि की ओर पलायन करते देख और दूसरी बार, दूर देश जाते देख, वे उद्विग्न होंगे—'दूसरे वनवास' के अप्रवासियों को देखकर वे सोचेंगे कि उन लोगों का द्वीपों में निवास, क्या केवल एक अस्थायी घटना थी? और उनके लोगों की नियति, क्या विश्वभ्रमण ही है? कहीं अप्रवास से उत्प्रवास ही उनके लोगों का समाधि-लेख न बन जाये। वे अपने उत्तराधिकारियों से प्रश्न करेंगे, और कर रहे हैं : किसी स्थान को, अपना घर कहने के लिए, कितनी पीढ़ियों को वहां रहना पड़ता है?

बहराईच

दूर से कर्म हमारे, साथ हमारे आते हैं,
आज भी हम वह हैं, जो सदा रहे हैं।

(भारतीय कहावत)

मेरे बाबा एक गिरमिटिया थे। उनकी यादें आज भी तरोताज़ा हैं। वे लंबे, चौड़े, आकर्षक व्यक्तित्व के पुरुष थे। उनके बड़ी-बड़ी हैंडलबारनुमा मूंछें थीं, चेहरे पर सप्ताह भर की सफ़ेद दाढ़ी हमेशा रहती थी, सिर पर कम होते हुए छोटे-छोटे कटे बाल थे, अंदर धंसी हुईं लगभग अंधी हो चलीं आंखें थीं जो हमेशा दूर किसी चीज़ पर टिकी रहतीं थीं। वे हमेशा सफ़ेद सूती कुर्ता और धोती पहने रहते, एक हाथ में घर का बना हुआ 'सुलूका' लिए रहते थे और दूसरे में छड़ी। ९ मई १९६२, अपनी मृत्यु के समय, वे अस्सी से ऊपर के थे, यद्यपि वे अपने को सौ के आस-पास ही बताते थे। वे आदतों से बंधे मनुष्य थे। सुबह की पहली किरण के साथ ही वह उठ जाते, जैसा वे गिरमिट के समय किया करते थे। फिर नदी के समीप, खेतों में वे सिंचाई आदि करते, अपने बिना दांत वाले मुंह को नमक के पानी से धोते, कुएं पर नहाते, और सूरज की प्रार्थना के साथ-साथ एक लोटा तुलसी की पत्तियां डला जल चढ़ाते—सूरज को, जो सदैव ऊर्जा का स्रोत है। उसके बाद एक प्याला लाल और मीठी चाय पीकर वे अतिथिगृह के पीछे, संतरे के पेड़ के नीचे, चारपाई पर, आराम करते थे।

महीने में एक आध बार दोपहर के समय कुछ और गिरमिटिया भी हमारे घर पर एकत्र होते। वे भी भूरे-भूरे, धोती पहने, आजा की ही उम्र के आदमी हुआ करते थे। वे हुक्का पीते—आज मुझे पक्का विश्वास है कि उसमें गांजा था—और अपने लुप्त हो रहे अतीत के बारे में अजीब सी भाषा में बातें करते, जिसे कोई नहीं समझ पाता। कभी-कभार किसी उत्सव के मौके पर जब पूरा गांव एकत्र होता—जैसे सत्यनारायण की पूजा, रामायण पाठ, भगवद्कथा, रामनवमी, शिवरात्रि—तब सभी लोग इन गिरमिटिया लोगों से भजन सुनाने के लिए मिन्नतें करते—ऐसे भजन जो वही गा सकते थे। ऐसे मौकों पर, आजा नेतृत्व संभालते थे। वे एक निपुण भजनिया

और साथ ही सारंगी और खंजड़ी वादक भी थे। हम सब दीवाल से लगे पाल पर बैठ जाते और सुधबुध खोकर आजा और उनके देश भाइयों—ज्वाला, माधो, बुतरू, धानेसर, नन्का—को सुनते। वे कभी न भुलाये जाने वाले कबीर के भजन गाते—प्रेम, नुकसान और दुःख के बारे में (कोई ठगुआ नगरिया लूटल हो), माया के जाल से आत्मा के मुक्त होने की तीव्र इच्छा के बारे में (रहना नहीं देश विराना है), विश्वास के बिना जीवन की निरर्थकता के बारे में (सुमिरन बिना गोता खाओगे), शरीर का, खोई हुई आत्मा के लिए, निरर्थक रोने के बारे में (तज दियो प्राण, क्या कहे रोये) आदि। जैसे-जैसे शाम गुज़रती जाती वे गा-गा कर अपने को भाव-समाधी में ले जाते।

इन लोगों में कुछ विचित्रता थी, कुछ असंगति थी। अपने जीवन के आख़िरी पड़ाव पर पहुंचे ये लोग, किस्मत के कारण अपने को एक ऐसी जगह पर असहाय पा रहे थे जिसे वह शायद पूरी तरह अपना नहीं पाये थे, और जिस जगह से वे अत्यधिक प्यार करते थे वहां लौट नहीं पा रहे थे। वे ऐसे लोग थे जो संस्कृति और इतिहास के तनावों के बीच फंस गए थे। अपने दत्तक देश के तौर-तरीकों में अपना समावेश रोकने के लिए वे अपने पुराने याद रहे रीति-रिवाजों को, अपनी नई परिस्थितियों में दोहराने का प्रयत्न कर रहे थे। उदाहरणार्थ, आजा कभी खुद अपनी दाढ़ी नहीं बनाते थे। हर इतवार को एक हज्जाम जिसका नाम चिनैया था, के आने का इंतज़ार करते। वह नदी पार, पास के लांगीरी गांव का रहने वाला था। वह, उनकी दाढ़ी बनाता और बदले में परंपरा अनुसार कुछ चावल और मूंग दाल ले जाता। हर वर्ष, परिवार की सत्यनारायण पूजा के बाद, आजा एक बछड़ा परिवार के ब्राह्मण पुरोहित को देते। उनको आशा थी कि ऐसा करने से उनके बच्चे और पोता-पोती उस पशु की पूंछ पकड़ कर इस लोक से परलोक में वैतरणी नदी पार कर सकेंगे। किसी शुभ अवसर पर, जैसे कि पोता या पोती के जन्म पर वे एक भण्डारा आयोजित करते जिसमें दूर-दूर के सभी सगे संबंधी और तत्कालीन पड़ोसी आमंत्रित होते। पितृपक्ष में, आजा, महीने में तेरह दिनों के लिए उपवास रखते और प्रार्थना करते और आम के पेड़ के नीचे, एक खास तौर पर बने हुए पूजा के टीले पर, केले या तारो के पत्तों में खाना अर्पित करते। इन दिनों में, वे परिवार के सदस्य जिनकी मौत हाल ही में हो गई थी, अपनी-अपनी कब्रों को छोड़कर धरती पर विचरने वापस आते हैं। यह और अन्य रीति रिवाज़, जिनके साथ मैं बड़ा हुआ था, अब बिल्कुल समाप्त हो गए हैं।

आजा 1908 में पंचवर्षीय समझौते के अन्तर्गत एक शर्तबंध मज़दूर के रूप में फीजी आए थे—सी.एस.आर. के चीनी के बागानों में काम करने के लिए। पांच साल के अन्त में वे भारत वापस लौट सकते थे या काम करने के 10 सालों के बाद सरकार के खर्चे पर भी वे वापस जा सकते थे। स्वदेश को कभी भी पूर्ण रूप से त्यागना आजा ने कभी नहीं चाहा था और उन्हें आशा थी कि वे एक दिन ज़रूर

वापस जाएंगे। 1950 के दशक तक वे बहराईच में अपने रिश्तेदारों से पत्र-व्यवहार करते रहे और कभी-कभी जो भी पैसा परिवार बचा पाता, वह भी वहां भेजते रहे। परंतु निर्णय का दिन कभी नहीं आया। हमारा परिवार हमेशा आर्थिक समस्याओं से घिरा रहता था। आजा ने दूसरी जाति की महिला से शादी की थी और यह भारत में उनके और उनके परिवार वालों के लिए कितना अपमानजनक सिद्ध होगा—वे यह जानते थे। उन्हें अपने परिवार की देखभाल भी करनी थी, 10 एकड़ के, पट्टे पर लिए खेत, का लगान भी देना होता था। इस तरह समय गुज़रता गया और घर की यादें धूमिल होती चली गईं और समय के साथ सोचा हुआ अस्थायी प्रवास एक स्थायी विस्थापन बन गया।

मेरे आजा उन 60,000 आदमी, औरतें और बच्चों में शामिल थे जो 1879 में जब शर्तबंध मज़दूरी फीजी में शुरू हुई और 1916 में जब वह खतम कर दी गई, के मध्य में फीजी आए थे। फीजी प्रवासी खुद करीब दस लाख भारतीय शर्तबंध प्रवासियों का हिस्सा थे जिन्होंने कालापानी को पार किया तथा हिंद और अटलांटिक महासागर में स्थित 'किंग शुगर' उपनिवेशों में गए। कुछ लोग, अनैतिक 'आरकतियों' के झांसे में आ गए थे। इन 'आरकतियों' ने, उन्हें, सुलभता से हासिल होने वाली धनसम्पदा की बड़ी-बड़ी कहानियां सुनाईं। उन्हें समझाया गया कि यह धन सम्पदा, मारीच मिर्च द्वीप (मॉरीशस), चीनी टापू (ट्रीनीडाड), डिमेरारा (गुआयना), या फीजी जो कभी रमणीक द्वीप, कभी स्वर्ग-द्वीप भी कहलाता था, में मिल सकता थी। परंतु अधिकांश प्रवासी परेशानियों से घिरे सरल लोग थे जो अपनी समस्याओं से कुछ समय के लिए छुटकारा पाना चाहते थे। शायद उनकी फसल खराब हो गई हो या अकाल में उनके पशु मर गए हों। ज़मींदार किराया न मिलने पर उन्हें बेदखली की धमकी दे रहा हो या गांव का महाजन दिए हुए उधार का हिसाब मांग रहा हो—विस्थापन के कई कारण हो सकते हैं। जात-पांत के सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने के कारण शायद कुछ लोगों का गांव में हुक्का-पानी भी बंद होना, एक कारण हो सकता है। इसमें कोई शक नहीं कि कुछ तो कानूनी मुजरिम थे और कुछ बंधन-मुक्त युवा, जिन्हें जीवन में कुछ अपूर्व अनुभव की चाहत थी। सबको पता था कि वे एक ऐसी जगह जा रहे हैं जिसके बारे में उन्होंने पहले कभी नहीं सुना था पर उन्हें विश्वास था कि इससे पहले कि गांव में उनकी गैरहाज़िरी का एहसास हो, वे वापस आ जायेंगे।

आजा बहराईच से आए थे। बहराईच उत्तर-पूर्व भारत में स्थित एक निर्धन ज़िला है, जहां से 1870 के बाद, बिहार से भी अधिक, शर्तबंध मज़दूर, उपनिवेश भेजे गए। 1870 के बाद से बस्ती, गोंडा, आज़मगढ़, सुल्तानपुर, फैज़ाबाद जैसे ज़िलों से अधिकांश मज़दूर गए—यह ज़िले आज भी गरीबी और माथूसी से जुड़े हैं। आज, अधिकांश लोग, पूर्वी ज़िलों में व्याप्त अत्यधिक निर्धनता, पिछड़ापन, अकर्मण्यता और वहां के लोगों की आलस्यपूर्ण मानसिकता पर, टिप्पणी करते रहते हैं। उन्हें भारत

की धरती का 'वास्तविक अभागा' कहते हैं। इस आम राय को मानने वाले, यह सुनकर कि हजारों लोग इसी क्षेत्र से साहस, पहलशक्ति और कर्मठता—वे सब गुण जिनका इस क्षेत्र में अभाव है—के बल पर, पिछली शताब्दी में विभिन्न उपनिवेशों में गए—बहुत आश्चर्यचकित रह जाते हैं। इस क्षेत्र ने, भारत में भी, कलकत्ता की जूट मिलों, आसाम के चाय के बागानों और बिहार के कोयले की खानों में, लाखों मज़दूर, उपलब्ध कराये।

फीजी के शर्तबंध मज़दूरों में बहराईच का कोई विशेष योगदान नहीं था। फीजी में उत्तरी भारत से आए 45,000 मज़दूरों में केवल 750 मज़दूर ही बहराईच से आए थे। कई मामलों में वह पूर्वी उत्तर प्रदेश के ज़िलों का प्रारूप था—वहां अधिकांश रूप से हिंदू रहते थे जो गरीब, अनपढ़ किसान थे। उसकी जनसंख्या में कई खेतिहर जातियां शामिल थीं—अहीर, कुरमी, कोरी, कहार, लोधी, मुराऊ। साथ में ब्राह्मण और राजपूत किसान भी थे। समृद्धिबाहु त्रिभुज के आकार वाले बहराईच ज़िले का क्षेत्रफल 2647 वर्गमील था—फीजी के दूसरे सबसे बड़े द्वीप वानुआलेवू के बराबर। इसी द्वीप पर आजा अन्त में बस गए थे। बहराईच की जनसंख्या उस समय करीब दस लाख थी और अधिकांश अवध के ज़िलों की तरह बहराईच भी एक ताल्लुकदारी थी—उसका आधे से अधिक क्षेत्र चार ज़मीदारों के हाथों में था। आधे से अधिक ज़मीन पट्टेदारी पर जोती जाती और आधी उनके द्वारा जिन्हें जिन्स के रूप में भुगतान दिया जाता था। ज़िले में कई झीलें हैं जिससे मलेरिया, हैजा आदि फैलने की संभावनाएं रहतीं। अधिकारियों का यही रोना था कि यह बीमारियां ज़िले से कभी समाप्त ही नहीं होती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी की शुरूआत में ज़िले के काफी बड़े हिस्से में जंगल थे। आम, महुआ और शीशम के भी अत्यधिक पेड़ थे। आजा की कहानियों से मुझे मालूम है कि ज़िले में बहुत जानवर भी थे—तेंदुए, चीते, भेड़िया, बारहसिंगे, जंगली सुअर आदि। वे उनके बारे में बड़े प्रेम से बताते जैसे कि वे सब उनके विस्तृत परिवार का ही हिस्सा हों।

उत्प्रवास पास, वह अनुबंध पत्र जो मज़दूरों का वीज़ा और पासपोर्ट दोनों था, पर आजा की उम्र, प्रवसन के समय, 26 वर्ष लिखी हुई है। यही उम्र औसतन पूरी प्रवासी जनसंख्या की थी। आजा, एक युवा अविवाहित व्यक्ति के रूप में, काम की तलाश में, भटक रहे थे। 1907-1908 का वर्ष बहुत खराब रहा था—ऐसे ज़िले के लिए भी जो दुर्दिनों से अपरिचित नहीं था। बहराईच में अकाल पड़ गया था, और एक के बाद एक बुरी फसल ने उसके दुर्भाग्य को और बढ़ा दिया था। आजा, काम की तलाश में घूमते हुए स्थानीय थाने में पहुंचे। वहां उन्हें एक द्वीप में अद्भुत अवसर के बारे में पता चला। क्या वे कुछ साल के लिए ही वहां जाकर देखना चाहेंगे? आजा मान गए। तब उन्हें 13 जनवरी 1908 को रजिस्ट्रेशन के लिए फैज़ाबाद ले जाया गया। थोड़े दिनों के बाद ही, अन्य रंगरूटों के साथ वे कलकत्ता लाये गए।

दरियागंज के डिपो सर्जन, जो भारतीय मेडिकल सर्विस में लेफ्टीनेन्ट कर्नल थे, ने प्रमाणित किया कि 'हमने उक्त नाम के आदमी का मुआयना किया और उसे प्रवास के लिए योग्य पाया; वह सभी शारीरिक और मानसिक बीमारियों से मुक्त है; भरती से पहले उसे टीके लग चुके हैं।' 25 जनवरी को कलकत्ता के फीजी के उत्प्रवास ऐजेंट, डब्लू.जे. बोल्टन ने प्रमाणित किया कि आजा, 'मेरे सम्मुख आए और मैंने फीजी सरकार की तरफ से उनकी भरती की क्योंकि वे किराये पर उस देश में काम करने जाने के लिए तैयार थे। मैंने, उन्हें, उनकी नौकरी के संबंध में सभी बातें और उनके कर्तव्य समझा दिए हैं।' इस सबके बाद, 18 फरवरी 1908 में आजा को फीजी यात्रा पर जाने के लिए 'स्वस्थ' घोषित कर दिया गया।

मुझे याद है, आजा बताया करते थे कि उन्हें डिमेरेरा के लिए भरती किया गया था। यह आश्चर्य की बात नहीं थी। कई बार एक ही ऐजेन्ट कई उपनिवेशों के लिए भरती करता था। पर जब आजा कलकत्ता पहुंचे तो उन्हें बताया गया कि डिमेरेरा का कोटा पूरा हो चुका है और इसलिए उन्हें फीजी डिपो में हस्तान्तरित कर दिया गया। अपने अनुबंध पत्र के नियम-कानून वे अच्छी तरह समझ सके थे या नहीं, मुझे नहीं पता। कई लोग जो आजा के साथ आए थे, लंबी समुद्री यात्रा की असलियत का एहसास करके बिदक गए और कुछ बैरक छोड़कर भाग गए। पर आजा वहीं बने रहे। उन्होंने कहा कि उन्होंने 'आरकती' का नमक खाया था और इसलिए वे अपनी जुबान से नहीं फिरेंगे। वे नमकहराम नहीं थे, अकृतज्ञ नहीं थे। आत्मसम्मान, इज्ज़त, आजा के लिए बहुत महत्व रखते थे। पांच साल पांच मिनट की तरह बीत जाएंगे। क्या श्रीराम ने चौदह वर्ष वनवास में नहीं बिताये? अपनी बात को बल देने के लिए वे रामायण की कुछ पंक्तियां सुनाते थे--'चौदह बरस राम वनवासी---'। वे, अपने जहाज़ पर, डरते हुए नहीं अपितु निश्चय करके सवार हुए थे। 'एस.एस. संगोला', उनके जहाज़ का नाम था। अप्रवासी जहाज़ों के जादुई नाम हुआ करते थे। कुछ तो उत्कृष्ट पौराणिक कथाओं से लिए गए थे जैसे लियोनिडास, पेरिकिल्स, सिरिया और कुछ महानदियों के नाम पर रखे गए थे जैसे गैंजिस, इन्डस, सतलज, एल्ब, डैन्यूब, राईन, क्लाईड, एवॉन। सभी जहाज़ों को मानव नौभार को लादकर दूरस्थ प्रदेशों में ले जाने के लिए ही बनाया गया था। कुछ लोगों ने इन जहाज़ों को, 'असभ्य पर्यटकों का तैरता हुआ कारवां', बताया जब कि कुछ गिरमिटियों ने उन्हें, 'चलता-फिरता, जीता-जागता जनाजा' कह कर याद किया।

जहाज़ों के खचाखच भरे हुए कैबिनों की सीमित जगह से, लोग, जिन्होंने पहले कभी समुद्र नहीं देखा था, बहुत परेशान हो गए थे। अवश्यंभावी रूप से जहाज़ एक सामाजिक उथल-पुथल का केंद्र बन गए। गांव के सभी रीति-रिवाज़ और परंपराएं, उस कुठाली में, टुकड़े-टुकड़े होने लगे। भण्डारियों (खाना बनाने वालों) की जात का किसी को पता नहीं था। पंगत में, एक पंक्ति में बैठकर, सब साथ बैठकर ही खाते

थे, एक ही पात्र का सब पानी पीते थे, एक ही गुसलखाने का इस्तेमाल और सफाई करते थे। बारी-बारी से, सभी को, जहाज़ के डेक को बुहारना, धोना और साफ करना होता था। समुद्री यात्रा ने, सभी ऊंचे-नीचे वर्गों को, एक धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया था : साहबों की नज़र में सभी अप्रवासी 'कुली' थे। कुछ ने विरोध किया, कुछ ने धोखाधड़ी से काम लेना चाहा, कुछ ने जायज़ रास्तों से बचने की कोशिश की, पर कोई फ़ायदा नहीं हुआ। आजा, एक उच्च वर्गीय आदमी की कहानी सुनाते थे, जिसने छुआछूत के कारण कुछ प्याज़ और आलू चुरा कर अपने आप खाना बनाने की कोशिश की थी। पर वह पकड़ा गया। सबको सबक सिखाने के लिए सर्जन सुपरिन्टेन्डेन्ट ने उसके मुंह में कच्चा आलू ठूंस कर सभी यात्रियों के सामने डेक पर इधर से उधर परेड कराई। इसी कहानी को बताते-बताते आजा कितना हंसते थे! एक और घटना वे याद करते थे—जब एक तूफानी रात में लोग शाम का खाना खा रहे थे, तभी जहाज़ ने हिचकोला खाया और सारा खाना पूरी जगह बिखर गया। उसके बाद से छुआछूत के दिखावे ख़त्म हो गए।

परंतु विस्थापन और उथल-पुथल के बीच नये संबंधों का सूत्रपात्र भी हो रहा था। सबसे महत्वपूर्ण तो जहाज़ी भाई का रिश्ता था—एक ऐसा रिश्ता जिसे न समय और न ही परिस्थितियां बदल सकीं। यह रिश्ता एक अत्यन्त स्थिर और घनिष्ठ पारिवारिक रिश्ते का आधार बना। कुछ ठीक कारणोंवश औपनिवेशिक अधिकारियों ने जहाज़ी भाइयों को देश में अलग-अलग बागानों में काम करने के लिए भेजा। पर किसी न किसी तरह, शर्तबंध मज़दूरी समाप्त होने के बहुत बाद तक भी, जहाजियों ने आपसी सम्पर्क बनाए रखा। लंबे-लंबे रास्ते पैदल चलकर वे आपस में मिला करते थे और अपनी पुरानी यादें तरोताज़ा किया करते थे। मुझे याद है कि ये सभाएं बहुत भावुक हुआ करतीं थीं। जहाज़ी, एक-दूसरे से खून का रिश्ता समझते थे और वे उसी कर्तव्य और दायित्व निभाते थे जो ऐसे रिश्ते से जुड़े हुए होते हैं। आज, गिरमिटियों के साथ ही ये रिश्ते भी समाप्त हो गए हैं।

आजा ने अपनी मज़दूरी का अधिकांश समय लबासा के तुआतुआ चीनी बागान में बिताया। यहां सी.एस.आर. ने 1890 के दशक की शुरूआती दौर में चीनी बागान बनाये थे। 1894 में यहां एक गन्ना पेरने वाली मिल भी कंपनी ने स्थापित की थी। शर्तबंध मज़दूरी, आम तौर पर एक सख्त, क्रूरतापूर्ण और आत्मविस्मृत करने वाला अनुभव था पर लबासा में तो परिस्थितियां और भी विषम थीं। वहां रहने वाले गिरमिटिया एक दूरस्थ द्वीप पर होने के कारण सरकारी अधिकारियों की आंखों और दिमाग़ दोनों से दूर थे, इसलिए वे अधिक असुरक्षित थे। कानून द्वारा बागानों के निरीक्षण और देख-रेख की जो व्यवस्थाएं की गईं थीं, वे सब व्यवहारिक दृष्टि से पूरी तरह लागू नहीं हो पातीं थीं। निर्धारित घंटों से अधिक काम लेने की प्रवृत्ति, हिंसा, और दुर्व्यवहार ने कइयों को तोड़कर रख दिया था। आजा ने, प्रारम्भ में, कुछ

वर्ष, खेतों में मज़दूरी की पर उनका कहना था कि उनके बाग़ान के मज़दूर बहुत भाग्यशाली थे क्योंकि उनका कुलांबार या ओवरसियर एक तजुर्बेकार, मानवीय व्यक्ति था जो अपने आधीन लोगों का एक पिता की तरह ख़्याल रखता था। कुछ अधिकारी ऐसे ही थे। जब बात नियंत्रण से बाहर हो जाती तब गिरमिटियाओं को बड़े साहब या मुख्य निरीक्षक के पास ले जाया जाता जिनसे यह उम्मीद की जाती कि वे सब स्थिति संभाल लेंगे। आजा भाग्यशाली थे कि वे उस समय फीजी आए जिस समय शर्तबंध मज़दूरी के सबसे बुरे दिन बीत चुके थे--मौत, बीमारी, हृदयविदारक ऊंची शिशु मृत्यु दर, निर्धारित समय की अपेक्षा अत्यधिक काम लेने, के दिन। आजा के भाग्य से उन्हें खेत पर बहुत दिन मज़दूरी नहीं करनी पड़ी। यह पता चला कि उन्हें घोड़ों का अच्छा ज्ञान था। वे अपनी युवा अवस्था में घोड़ों की दौड़ में चैम्पियन रह चुके थे। अतः उनका तबादला सी.एस.आर. के अस्तबलों में कर दिया गया जहां उन्होंने बाकी गिरमिट के दिन भारवाहक और दौड़ वाले, दोनों तरह के घोड़ों की देख-रेख में बिताये। 18 मई 1913 को फीजी में आने के ठीक पांच वर्षों के बाद वे स्वतंत्र हो गए--अपने भाग्य के स्वयं मालिक बन गए। उन्होंने तुआतुआ छोड़ दिया और ताबिया में एक दस एकड़ की भूमि का टुकड़ा पट्टे पर ले लिया। यह भूमि गन्ना उगाने वाले क्षेत्र के किनारे थी। यहां वे रहने लगे और यहीं अपने परिवार का उन्होंने लालन-पालन किया। यहीं, 1962 में, उनकी मृत्यु हुई।

प्रसिद्ध आस्ट्रेलियन इतिहासकार, के.एस. इंग्लिस का कहना है कि अधिकांश इतिहास मुख्य रूप से एक छुपी हुई आत्मकथा है--यह तथ्य, औरों की अपेक्षा, मेरे मामले में अधिक सही साबित हुआ। लबासा के दूरस्थ इलाके में ग्रामीण खेतिहर समुदाय के बीच बड़े होकर मैंने अपने चारों तरफ शर्तबंध मज़दूरी के स्मृति चिह्न और उसकी बपौती देखी। अपनी पीढ़ी के अन्य लोगों की तरह मेरे माता-पिता भी गिरमिट की साया में पले-बढ़े थे और उन पर, उस अनुभव के मानसिक और भावात्मक घावों की अमिट छाप थी--एकाकीपन, गरीबी, जीवन की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए कभी खत्म न होने वाला संग्राम, नियंत्रण से बाहर तत्वों के प्रति असह्य और असुरक्षित होने का एहसास, और सी. एस.आर. का गन्ना उत्पादकों के जीवन पर अनामित नियन्त्रण। आजा के कान और आंख, मैं ही था और इसलिए मैं उनके बहुत क़रीब भी था (उनके देहान्त के समय, मैं उन्हीं के पास, उस मई की सुबह सोया हुआ था)। बहुत पहले से मुझे उनकी कहानियां और यादें अत्यन्त रोचक लगतीं थीं और उनके सभी साथी भी,--वे सभी अजीब से बूढ़े लोग थे, अजीब कपड़े पहनते और अजीब-सी भाषा बोलते थे। ये कौन लोग थे और आखिर कैसे वे सब फीजी आए--फीजी जो भारत से हज़ारों मील दूर है। वे सब यहां क्यों आए थे, और वे यहां क्यों रुक गए? उनका कोई लिखित इतिहास नहीं था, केवल कुछ धूमिल पड़ती यादें थीं जो एक दूरस्थ और अप्रासंगिक अतीत के कुछ परस्पर विरोधी प्रमाणों का

एक समूह चित्र प्रतीत होता था। उस शीघ्र धूमिल होते हुए अतीत को, मैं, जानना चाहता था।

यह मौका मुझे 1977 में मिला जब मैंने अपना डॉक्टोरल शोध कार्य, ऑस्ट्रेलियन नेशनल विश्वविद्यालय में शुरू किया। लिखित दस्तावेज़ों का गहन अध्ययन करने से गिरमिटियाओं के बारे में प्रचलित अवधारणाएं झूठी साबित होने लगीं। वे मनुष्य जाति के बहते हुए कचरे या खुरचन नहीं थे जिन्हें कलकत्ता की गलियों से उठा लिया गया था। वे विस्थापित ग्रामीण खेतिहर संप्रदाय के प्रतिनिधिक अंश थे जो जीवन में अच्छे मौकों की तलाश में कहीं भी, कभी भी, भटकने के लिए तैयार थे। सौभाग्य से उन दिनों मुझे स्नातकोत्तर शोध के लिए फील्ड वर्क करना आवश्यक था। मुझे एक वर्ष के लिए भारत आने का अवसर मिला। वहां, मैं, उन इलाकों में जा सकता था जहां से गिरमिटिया आए थे, उन जगहों का एहसास कर सकता था, प्रवसन के मौखिक और लिखित वर्णनों को एकत्र कर सकता था। मुझमें, आजा के देश की यात्रा करने का बड़ा रोमांच था—वह यात्रा जो वे खुद करना चाहते थे पर कर न सके। उनके लिए और अपने लिए भी, मैं, बहराईच की इस तीर्थ यात्रा को पूरा करना चाहता था।

अंततः 1978 में जब, मैं, बहराईच पहुंचा, तब तक मैं भारत में इतने दिन रह चुका था कि मैं उसकी उन विलक्षणताओं का, जो एक आदमी की भावनाओं पर आघात करतीं हैं, अभ्यस्त हो चुका था—भीड़, शोर, गलियों की बदबू, शहरी गंदगी, विकृत रूप से अपंग भिखारियों की भीड़, रात में, बैटरी बचाने के लिए टैक्सी चालकों द्वारा बिना हैडलाइट जलाये गाड़ी चलाना, दफ्तरों के भ्रष्ट लोग जिन्हें अपने हाथ गरम करने की आदत पड़ चुकी है और सब 'फोरेन' वस्तुओं को पाने की तीव्र इच्छा। आप कह सकते हैं कि ये 'नॉयपालीय आशंकायें' हैं पर मुझे भी पहले पहल भारत एक अंधकारपूर्ण क्षेत्र ही प्रतीत हुआ। परंतु शीघ्र ही, हम, इन विलक्षणताओं के अभ्यस्त हो जाते हैं। अप्रिय सत्य के परे जाकर, चीज़ों को देखने की, अपनी नई क्षमता पर, मुझे आश्चर्य हुआ। भिखारियों को अनदेखा करना, कुछ गलियों में न ही जाना, वेश्याओं को मूल कार्यों के लिए पैसे देना, जैसे, पंसारी का सामान लाने के लिए और रेल या सिनेमा के टिकट खरीदने हेतु। धुएं से भरे, तेलरंजित ढाबों का सड़क के किनारे खाना खाने में, या मिट्टी के कुल्हड़ों में मीठी शीरा जैसी चाय पीने में, मैं, अब दोबारा नहीं सोचता हूं। भारतीयों का सामाजिक वर्ग और स्तर के प्रति ग्रस्तता और उससे जुड़े प्रश्नों और मेरा 'गुड नेम' जानने के प्रयासों से बचने के लिए मैं अलग-अलग जगहों पर अपना अलग-अलग नाम और पहचान बना लेता। जब सब हथकण्डे असफल हो जाते तब मैं बस इतना कह देता कि मैं दक्षिण से हूं। मुझे जल्द ही पता चल गया था कि ऐसा कहना उत्तरी भारत में वार्तालाप को रोकने का अच्छा तरीका था।

परंतु, भारत के स्वरूप का एक दूसरा पहलू भी है, जो आप पर, धीरे-धीरे परंतु अति सूक्ष्म रूप से, अपनी छाप छोड़ता जाता है। उसका प्रभाव आप पर बहुत ही ज़बरदस्त और आपको विनम्र कर देने वाला होता है। आपको धीरे-धीरे यह एहसास होने लगता है कि उस गर्मी, धूल और शोर के पीछे कितना इतिहास और जीवन छुपा है जो परिदृश्य में बिखरे हुए खण्डहरों में प्रतिबिंबित होता है। भारतीय इतिहास के कब्रिस्तान में कितने ही शक्तिशाली साम्राज्यों के सपने और चाहतें दबी हुई हैं। शताब्दियों तक भारत ने असीमित विदेशी आक्रमण झेले हैं परंतु फिर भी अपनी आत्मा को उसने सुरक्षित रखा है। कभी-कभी तो इतना अधिक इतिहास और भारतीय संस्कृति की विविधता और गहनता से घिरे रहने पर मुझे कुछ खो देने का एहसास होता है, ऐसा प्रतीत होता जैसे शायद मैं कहीं से अधूरा रह गया हूं। ध्वनियों की विविधता, त्यौहारों के विभिन्न रंग, परिदृश्यों की बनावट, घर में विभिन्न भाषाएं बोलते लोग (जो मुझे समझ में नहीं आतीं हैं)—यह सब ऐसे मनुष्य के लिए, जो एक छोटे से द्वीप पर जन्मा हो और विस्थापित प्रवासी संस्कृति में पला-बढ़ा हो, बहुत चौंका देने वाला था।

भारतीय संस्कृति, उसकी कला, संगीत और साहित्य की मोटी रूपरेखा को मैं पहचान रहा हूं—मैं, लता मंगेशकर, मुहम्मद रफी, के.एल. सहगल, सी.एच. आत्मा, हेमन्त कुमार, मुकेश, मन्ना डे के गाने सुनकर ही बड़ा हुआ हूं—उनका संगीत, आज भी, मेरे घर में गूंजता रहता है। और फीजी में रहने वाला कौन-सा भारतीय लड़का ऐसा होगा, जो मन ही मन, देवानंद या राजकुमार, बलराज साहिनी या दिलीप कुमार जैसे लोकप्रिय अभिनेताओं की तरह नहीं बनना चाहता होगा? मैंने, प्रेमचंद द्वारा लिखित 'गोदान' हिंदी में पढ़ी है और होरी की दशा ने मुझे बहुत क्षुब्ध किया। मुझे दिल में यह भी विश्वास है कि फणीश्वर नाथ रेणु द्वारा रचित 'मैला आंचल' एक दिन महान उपन्यास के रूप में सराहा जाएगा। पर मैं, यह भी जानता हूं कि मेरा भारत, बीते हुए दिनों का भारत है, समय के एक विशेष काल में अवरुद्ध भारत है, (मेरे बाल्यकाल के समय में); मुझे भारत का विचार अच्छा लगता है, उसकी वास्तविकता नहीं। तत्कालीन भारत और उसकी जाति और संप्रदाय पर आधारित राजनीति, हिंदुत्व का रूढ़िवादी राजनीतिक कार्यों में प्रयोग, सांस्कृतिक पुनर्जागरण के बहाने से पूजास्थलों का तोड़ा जाना, मेरे लिए कोई महत्व नहीं रखता। मेरे बाबा का देश मेरा नहीं है। अजीब बात है कि भारत में, मुझे मेरी फीजी जड़ों की गहराइयों का और मेरे अस्तित्व पर सागरीय सभ्यता के प्रभाव का एहसास हुआ—समानता के प्रति तीव्र निष्ठा, रीति-रिवाज़ों और नयाचार के प्रति अधीरता, वर्तमान में जीने का रस, दीनता और सहिष्णुता, और साथी मनुष्यों के प्रति, जो जीवन की किश्ती में हमसफर हैं, एक संवेदनशील चिन्ता।

बहराईच बहुत ही पिछड़े क्षेत्रों में से एक है। दिल्ली में किसी ने उसके बारे

में मुझे ही नहीं है। जब मैं, लोगों से उसके बारे में पूछता हूं तब वे बड़ी कृपा जताते हुए उसे भारत के सबसे पिछड़े हुए प्रदेश के एक पिछड़े हुए हिस्से के रूप में पहचानते हैं और उस जगह में मेरी दिलचस्पी को लेकर आश्चर्य प्रकट करते हैं। लखनऊ में भी, जो उत्तर प्रदेश की राजधानी है, बहराईच का नाम, पूर्व में स्थित उन अभागे और जातिवाद से ग्रसित स्थानों से जुड़ा है जो राज्य और देश दोनों को बदनाम करते हैं। कई बार यह सब बातें सुनकर, मैं, अपनी खोज को बीच में ही छोड़कर वापस जाने के लिए बहक जाता हूं, पर इतनी दूर आकर आगे न बढ़ना गलत होगा। मैं नक्शों का अध्ययन करके अपनी यात्रा की योजना बनाता हूं। लखनऊ से पूर्व की तरफ चल कर, सुल्तानपुर, फैजाबाद, बस्ती और गोण्डा होता हुआ, बहराईच पहुंचूंगा। मैं उस क्षेत्र के मध्य से गुज़रूंगा जिसने फीजी को अधिकतम प्रवासी उपलब्ध कराये।

मैंने लखनऊ से 6 मार्च 1978 को प्रस्थान किया। बस सुबह 6 बजे चलनी थी और मुझे राय दी गई कि मैं आधे घंटे पहले डिपो पहुंच जाऊं। ज़ाहिर-सी बात है कि जो टिकट मैंने पहले से ही खरीदा हुआ है वह मुझे बस में सीट ढूंढ़ने का ही अधिकार देता है—इससे अधिक कुछ नहीं। मैं अपने निवास स्थान से, 5 बजे सुबह निकल लेता हूं। डिपो अंधकार में डूबा है, एक बेकार पड़े मालगोदाम की तरह, और कोई आदमी नज़र में नहीं आता। आधे घंटे बाद कुछ लोग आते हैं और मुझे पता चलता है कि लाइनों के एजेन्टों में दरों अधिकार वैसे ने ही बनाये हैं। हम 7.30 बजे प्रस्थान करते हैं, परंतु जैसे ही डिपो से बस बाहर निकलती है और पुलिस और यातायात अधिकारियों की निगाहों से दूर होती है, चालक आराम से नक्शा करने के लिए रुक जाता है, जब कि हम ठुंसे हुए अंदर बैठे रहते हैं। अगले कुछ सप्ताहों में, मेरा सावका, इस चिढ़ मचाने वाली आदत से बार-बार पड़ेगा। मुझे चिल्लाने का मन होता है पर उससे कुछ नहीं होने वाला। 'बस ऐसे ही चलता है', मेरे बगल में बैठे हुए एक वृद्ध आदमी ने मुझे बताया।

गंदे अस्त-व्यस्त कपड़ों के यात्रियों से बस खचाखच भरी है, धूल और पान की पीक भी सब जगह है। बस का बीच का रास्ता सामान से भरा है, जिन पर लोग बच्चे बैठे हैं। लोग उकड़ते हैं, खंखारते हैं और थूक की अचूक धार खुली खिड़की के बाहर फेंक देते हैं। आपकी पसली में कुहनी मारकर एक और यात्री के लिए जगह बनाने को कहते हैं जबकि बस पूरी तरह पहले ही भर चुकी है। प्राकृतिक क्रिया हेतु, चालक से बस रोकने के लिए कहने में, लोगों को कोई हिचक नहीं महसूस होती। वे बाहर निकलते हैं, अन्य यात्रियों की तरफ पीठ करते हैं, ज़िप खोलते हैं, या अपनी धोती उठाते हैं और बस शुरू हो जाते हैं, औरतों और बच्चों के सामने भी। कोई टिप्पणी नहीं होती, कोई शर्म नहीं; सब करते हैं। कुछ समय बाद मैं भी वही करने लगा। वह करना ही बेहतर था बजाय इसके कि लंबी ऊंची-नीची सड़क

पर पेट फटता रहे और परेशानी होती रहे। औरतें अधिकतर अंदर ही बैठी रहती थीं, शायद उनकी सहनशक्ति अधिक थी। हम सुंदर और उपजाऊ इलाके से गुज़रते हैं जहां गन्ना, बाजरा, मक्का, गेहूं, जौ, अरहर और सरसों के पीले खेत दिखाई देते हैं। विशाल, भलीभांति सिंचित कछारी सपाट मैदान हैं, जिनकी एकरूपता कभी-कभी आम के पेड़ों के झुरमुट, नदियां, निराई करने हेतु झुके शरीर, सर्वव्यापी गाय और क्षितिज पर कच्चे मकानों के समूह, तोड़ते हैं। काफी कुछ कनाडा के प्रेयरी के बीच यात्रा करना-सा मालूम होता है, वही एक रसता और वही मैदानों की विशालता, सिर्फ वहां गेहूं के बख़र दिखाई नहीं पड़ते थे। सड़क तारकोल से बनी थी। इसके अतिरिक्त, मुझे शक है, कि आजा के समय से और कुछ अधिक नहीं बदला है।

देर दोपहर हम बहराईच पहुंचते हैं। आश्चर्य की बात है कि शहर आधुनिक है। दुकानों में आधुनिक रेडियो सेट और खाने के बर्तन, करीने से प्रदर्शित हैं। बहराईच, अन्य पूर्वी ज़िलों की तुलना में, जिनसे होकर मैं गुज़रा था, कहीं अधिक साफ़ भी है। समृद्धि का अनापेक्षित वातावरण है। मैं, दूसरे दिन, आजा के गांव जाने की तैयारी करने के लिए उत्सुक हूं। पूर्व सन्ध्या बेला में, अपनी यात्रा की जानकारी पाने हेतु, मैं शहर के मुख्य मार्ग पर निकलता हूं। मुझे अपने सौभाग्य पर यकीन नहीं हुआ, जब मैंने यह जाना कि मेरा रिक्शा चालक मेरे आजा के गांव का ही रहने वाला है। मैंने उसी समय उसे अपना गाइड नियुक्त कर लिया, और अगली सुबह जल्दी जाने के लिए एक टैक्सी भी तय कर ली। आजा के गांव जाने की उत्सुक्ता के कारण उस रात मैं ठीक से सो नहीं पाया।

दूसरे दिन दस बजे के आस-पास हम टैक्सी में शहर से रवाना हुए। हरे सुनहरे गेहूं के खेतों के बीच जाती तारकोल की संकीर्ण सड़क पर टैक्सी दौड़ने लगी और मिट्टी की ईंटों से भरी बैलगाड़ियों को पीछे छोड़ने लगी। आजा के बचपन की यह जगह सुंदर थी पर मेरा दिमाग़ कहीं और था। मैं किसी घबराये हुए छात्र की तरह, जो किसी बड़ी परीक्षा में बैठने जा रहा हो, परेशान था। मैं, उचित थाने के संयोजन पर उतर गया और गांव के लिए रिक्शा कर लिया, जो एक किलोमीटर दूर था। सड़क पर चलते हुए, मैं, एक अच्छे रख-रखाव वाले ईंटों से बने एक घर पर पहुंचा। मैंने उसे गांव का मंदिर समझा। परंतु वह गांव के अध्यापक का घर था जो गांव के पंडित भी थे। करीब दर्जन भर लोग एक नवजात शिशु के मुंडन अनुष्ठान के उपलक्ष्य में, वहां, दोपहर का खाना खा रहे थे। मेरे हाते में प्रवेश करते ही एक आदमी मुझसे मिलने बाहर निकला और थोड़ी बातचीत के बाद, मुझे वहीं रोककर वह वापस घर में चला गया। मैंने उसे उत्तर प्रदेश के मुख्य सचिव का पत्र दिया था जिसमें मेरे आने का उद्देश्य लिखा हुआ था। शीघ्र ही दो आदमी मेरे पास आए। एक के कंधे पर बंदूक लटक रही थी। आम के पेड़ के नीचे, चारपाई पर, वे दोनों मेरे अगल-बगल बैठ गए। मैं चुप था क्योंकि वे मुझे शत्रुतापूर्ण, और डर उत्पन्न

करने वाली निगाहों से देख रहे थे। बाद में मुझे उनके इस अजीबोग़रीब व्यवहार का कारण पता चला। कुछ सप्ताह पहले, पास के गांव के एक भू-स्वामी का सिर मार्कसिस्ट नक्सलवादियों ने काट डाला था। मैं, चूंकि एक पढ़ा-लिखा युवक लग रहा था और मोटा चश्मा पहनने के कारण, मैं एक बंगाली कार्यकर्ता जैसा भी दिख रहा था इसलिए उन लोगों ने मुझे देखकर यह सोचा कि मैं एक नक्सलवादी एजेन्ट या सरकारी जासूस हो सकता हूं, जो उनकी मुसीबत का कारण बन सकता था। कुछ समय बाद 30 साल का एक आदमी बाहर आया और उसने मुझसे हाथ मिलाया। उसने देरी के लिए क्षमा मांगी और मुझे खाने के लिए घर में आमंत्रित किया। मैंने खाने के बदले एक ग्लास पानी पीना चाहा और उसके साथ गांव की तरफ चल पड़ा। मेरे साथ में करीब दर्जन भर, उत्सुक, चहचहाते, बहुत सीमित कपड़ों से ढके बच्चे भी चल दिए। हम, विभिन्न मोड़ों वाली, बदबूदार सड़क पर, जो गोबर और भूसे से भरी थी, चल पड़े। पहले से ही, गांव में एक अजनबी के आने की खबर पहुंच चुकी थी। जब तक मैं पहुंचा, गांव का मैदान लोगों से खचाखच भर चुका था। बच्चे अपने पिता के कंधों पर बैठे हुए थे। धोती और सूती कुर्ते पहने हुए, बाल छोटे-छोटे कटे हुए और सिर पर गंदी पगड़ी लगाये हुए—सब लोग मुझे एक जैसे ही प्रतीत हो रहे थे। एक बिसरा हुआ संसार सजग हो गया क्योंकि मुझे लबासा में आजा और उनके दोस्तों की याद हो आयी। पर गिरमिटिया बदल गए थे; समझौता करके वे आगे बढ़ गए थे; यहां के लोग समय के चक्र में जकड़े हुए प्रतीत हो रहे थे। उनके माथे की गहरी लकीरें, फटे पांव और खुरदुरे हाथ, परेशानियों और जीवन के कश्मकश की कहानी कह रहे थे।

उनके बीच पहुंच कर मैं बहुत भावुक हो उठा। कौन जानता है कि यदि किस्मत को कुछ और मंजूर होता तो शायद उन सब के साथ, आज मैं भी, धोती पहने खड़ा होता—एक थका और मुरझाया हुआ धरती पुत्र। परंतु, ऐसा सोचते ही मैं खौफ़ से भर गया। बाद में मुझे पता चला कि यह गांव, उस इलाके के और गांवों के मुकाबले अधिक समृद्धशाली था। गांव का अपना स्कूल था और एक अच्छा अंतःसंघटन भी। उसके कई निवासी शहर में काम कर रहे थे; कुछ ने प्रदेश में अपना काफी नाम भी कर लिया था। पर इन सब चीज़ों ने मुझे कम ही प्रभावित किया। मेरा संदर्भ बिंदु, मेरे अनुभवों के आधार पर कुछ और ही था। सब आंखें मेरे ऊपर टिकी थीं। मैं लोगों से घिरा हुआ था, जो एक अपरिचित भाषा बोल रहे थे। मुझे बोलने के लिए शब्द नहीं सूझ रहे थे।

मैंने अपने बाबा के बारे में बोलना शुरू किया जो बहुत दिन पहले प्रवासी होकर टपुआ हो गए थे। वे घर कभी वापस नहीं आए यद्यपि वे अकसर घर पत्र लिखा करते थे। मेरे पिता ने एक नाम मुझे बताया था 'छोटू' जो मेरे बाबा के भाई का लड़का था। मैंने कहा कि मुझे पता नहीं है कि छोटू या उसके लड़के-बच्चे जिंदा

हैं या नहीं। लोगों ने बताया कि हां, इस नाम का आदमी है तो परंतु वह और उसका बड़ा लड़का, हल्का, एक बारात में दूसरे गांव गए हुए हैं और कुछ देर बाद लौटेंगे। मेरे बोलने के बाद भीड़ में कुछ खलबली-सी हुई। गांव के बुजुर्ग आगे आए और उन्होंने मुझे गले लगा लिया, मेरे हाथों को अपने दोनों हाथों में लेकर हाथ मिलाया जो प्रेम और आदर का सूचक था और मुझे इमली के पेड़ के नीचे मैदान के बीचोंबीच एक चारपाई पर बैठने को कहा। मुझे शरबत का एक प्याला दिया गया और बहुत ही मीठी चाय। हम फीजी के बारे में बातचीत करते रहे—वह कहां है, कितना बड़ा है, कैसा दीखता है, हवाईजहाज में उड़ना कैसा लगता है?

आधे घण्टे बाद, फिर भीड़ में कुछ हलचल हुई और लोगों ने एक बहुत ही वृद्ध औरत को रास्ता दिया जो मेरी तरफ ही आ रहीं थीं। उनकी पीठ झुकी हुई थी, सफ़ेद-पीले अस्तव्यस्त बाल थे, और अंदर धंसी हुई आंखें थीं और वे लकड़ी की सहायता से चल रही थीं। उनके द्वारा, मैदान में हलचल का कारण पूछे जाने पर उन्हें मेरी कहानी बतायी गई थी। उस वृद्ध महिला ने, मुझे और सभी उपस्थित लोगों को बताया कि उन्होंने आजा के बारे में गांव के लोगों से सुना था। उन्होंने यह भी बताया कि किस तरह गांव के जजमान ने आजा से वापस आकर गांव में अपने उचित स्थान को प्राप्त करने की बात भी कही थी। आजा की गांव में आवश्यकता थी। उन्हें यह भी सान्त्वना दी गई थी कि बिना बताये जाने का कोई जुर्माना, उन्हें, नहीं भरना पड़ेगा। उन्होंने एक मिट्टी की झोपड़ी की तरफ इशारा करके बताया कि वह झोपड़ी उसी भूमि के टुकड़े पर बनी है जो आजा के लिए कभी सुरक्षित रखा गया था। वृद्ध महिला ने मुझे परिवार के एक और सदस्य के बारे में बताया जो बंगाल चले गए थे, जब वे खुद बहुत छोटी थीं और बीस साल बाद वापस आ गए थे। वे एक भिखारी के रूप में मरे थे। उनकी दो बंगाली औरतें कलकत्ता वापस चली गईं थीं और उनके बारे में फिर कोई खबर नहीं मिली थी। मुझे याद आया कि फीजी में बंगाली औरतों से लोग डरते थे और बचते भी थे। उन्हें बलिदान मांगने वाली काली देवी की पुत्रियां समझा जाता था। ऐसा समझा जाता था कि वे जादू-टोना भी करना जानतीं थीं।

मुझे खाना खाने के लिए आमंत्रित किया गया पर मैंने मना कर दिया क्योंकि मुझे पेचिश हो गई थी और मुझे खाने में सावधानी बरतनी थी। लोगों ने विरोध किया : पुराने खोये हुए परिवार जन का घर के खाने से ही स्वागत किया जाता था। तब मुझे एहसास हुआ कि खाने के लिए मना करना परिवार को अस्वीकार करने की भावना प्रदर्शित कर रहा था और 'मेरे परिवार' के लिए एक व्यक्तिगत शर्मिंदगी का कारण बन सकता था। एक हंसमुख, कुशाग्र बुद्धि वाली औरत, जो मेरे विचार से मुझसे मज़ाक का रिश्ता रखती थी, शायद 'भाभी' का, ने मुझे धमकी दी कि वे मेरी घड़ी चुरा लेंगी, अगर मैंने उनके हाथ का बना खाना नहीं खाया।

'का समझत हो हमका?', उन्होंने कहा। इस तरह से दबाव में आकर, मैं खाने को टूंगने लगा—चावल, आलू और बीन की रसेदार सब्ज़ी। मुझे खाते हुए, पूरा गांव देखता रहा।

देर दोपहर में छोटू और हल्का वापस आए। उन्हें, किसी तरह, मेरे बारे में, पहले से ही पता लग चुका था। छोटू, आंखों नें आंसू भरे हुए मेरे पास आया और मुझे गले लगाकर ज़ारज़ार रोने लगा। बहुत देर तक, हम दोनों, एक-दूसरे को पकड़े रहे। उसने मुझे हल्का से मिलाया। अपने पिता की तरह वह भी छोटे कद का, फुर्तीला और दक्ष आदमी प्रतीत हुआ। उसे देखकर लगा जैसे वह परिवार का आधार स्तम्भ है। वह हल्का की ही पत्नी थी जिसने मुझसे घड़ी को लेकर मज़ाक किया था। फिर मुझे मैदान में घुमाया गया और अपने वृहत परिवार के सभी सदस्यों से मिलाया गया जिसमें मेरी चाचियां, भतीजियां और शरारती भाभियां भी शामिल थीं जो आश्चर्यजनक रूप से सुगठित नाक-नक्श वालीं और शरारती आंखों वालीं थीं। गांव के बड़े-बूढ़ों से भी मुझे मिलाया गया।

छोटू काका को आजा के खत मिलना याद था जिसमें आजा ने बताया था कि कैसे वे अब वृद्ध हो चले हैं और अपने पोते-पोतियों के साथ दिन बिता रहे हैं। वे वापस नहीं आएंगे, न ही आ पा रहे हैं और उनकी भूमि के हिस्से को बाकी भाइयों में बांटने के लिए उन्होंने लिखा था। परंतु 1950 के दशक के अंतिम चरणों में और विशेषतः आजा की मृत्यु क बाद, सभी सम्पक टूट गया था—अभी तक। 'तुम का देख के हमार दिल गदगद हो गवा', छोटू काका ने भावना से बोझिल आवाज़ में मुझसे कहा। मैंने उनके परिवार के बारे में पूछा। उनकी पोती की शादी जो कि वास्तव में सगाई थी, होने वाली थी। वह तेरह या चौदह साल से अधिक उम्र की नहीं थी। मैंने उसके लिए सौ रुपये भेंट किए। बाल विवाह की प्रथा ने मुझे आश्चर्य में डाल दिया। बाद में बहराईच के एक प्रोफेसर से जब, मैंने, बात उठायी तब उन्होंने बताया कि वर्तमान में, इस मामले में, स्थिति वास्तव में सुधरी है। उन्होंने यह भी कहा कि बहुत दिन पहले की बात नहीं है जब दो या तीन वर्षों में ही सगाई कर दी जाती थी और अपनी सगाई में अपने पिता के कंधों पर बैठकर बच्चे जाया करते थे (उन्हें वह समय भी याद था जब बच्चों के पैदा होने से पहले ही उनकी सगाई कर दी जाती थी)।

छोटू काका और गांव के अन्य बड़ों ने मुझे और मेरे पूरे परिवार को वापस भारत आकर बहराईच में रहने के लिए आमंत्रित किया ताकि सब फिर एक होकर रह सकें। स्थितियां धीमे-धीमे, बहराईच में, सुधर रहीं थीं और वहां, हम सब के रहने के लिए जगह थी। मुझे आराम से गांव के स्कूल में अध्यापक की नौकरी मिल सकती थी। बहुत ही मर्मस्पर्शी भोलापन था। मैंने भारत छोड़ने से पहले दोबारा आने का वायदा किया पर मैं उन्हें यह नहीं बता सका कि उनका भारत अब मेरे लिए

एक अजनबी देश है और संबंध पूरी तरह टूट चुका है। छोटू काका, हल्का और परिवार के अन्य सदस्य, मेरे साथ, राजपथ के संयोजन तक चलकर आए। वे स्वाभाविक रूप से मिलनसार और प्रेमी लोग थे। मेरा, इतनी दूर से, उनसे मिलने आना, उन्हें बहुत अच्छा लगा था। इसी कारणवश वे बहुत खुश थे और कृतज्ञ भी। छोटू काका ने मुझे बाहुपाश में भर लिया और उनकी आवाज़ भावावेश से भर्रा गई। हल्का मुझसे गले मिला और आदर स्वरूप उसने मेरे पैर भी छुये।

भावनाओं का एक गुबार आया और कुछ समय के लिए मैं अपने को संभाल न सका। फिर चलने का समय हो गया। मैं, प्रतीक्षा करती टैक्सी में बैठ गया। मैं, शारीरिक और भावनात्मक दोनों रूप से थक चुका था। हम बढ़ते हुए अंधकार की तरफ बढ़ चले। मैं खुश था कि मैंने तीर्थयात्रा सम्पन्न कर ली थी—अपने लिए ही नहीं वरन् अपने पिता और बाबा के लिए भी। यात्रा ने मेरे बचपन की गुत्थियां सुलझा दीं और लुप्त हुए एक संसार से, फिर से, मेरा नाता जोड़ा। बचपन में, अजीब-अजीब बेसुरी आवाज़ें जो मैंने सुनी थीं, वह इन क्षेत्रों में अभी भी बोली जाती हैं—बहराईच का आवा-गवा, आईबा-जाईबा—गोंडा का, बस्ती का अईबो-जईबो, बलिया, आज़मगढ़ और गाज़ीपुर का ऐली-गैली। विवाह उत्सवों पर लंहगा नृत्य जो आदमी औरतों के कपड़े पहनकर करते हैं, आज भी यहां होता है। आल्हाखण्ड के गीत, जिनमें, दो भाइयों का अपनी प्रियत्माओं को पाने के लिए बहादुरी भरी लड़ाइयां लड़ने की गाथाएं हैं, और जो नगाड़ों के साथ गाये जाते हैं, फीजी से तो लुप्त हो गए हैं परंतु उत्तर प्रदेश के इन इलाकों में अभी भी गाये जाते हैं। वही बात कबड्डी की है। इसके बारे में मुझे थोड़ा-थोड़ा यह याद है कि फीजी के गांवों के बीच कबड्डी के मुकाबले हुआ करते थे।

उत्तर प्रदेश के इन पिछड़े हुए क्षेत्रों का भ्रमण करते हुए, मुझमें उन हज़ारों साधारण लोगों के प्रति एक नयी श्रद्धा और आदर का भाव जाग्रत हुआ, जो जीवन के हर वर्ग से थे, जिन्होंने अपनी किस्मत खुद बनाने की हिम्मत की थी, जिन्होंने अपनी गठरिया उठाकर दुनिया के दूरस्थ कोनों में अपने और अपने परिवार की बेहतरी के लिए जाने का साहस किया था। जीवन के अत्यधिक दुखों और परेशानियों को, नयी शक्ति, अज्ञान जनता और सहित ने सहने की इन लोगों की हिम्मत और इस सबके बावजूद अपनी इज्ज़त और आदर बनाए रखने का इनका प्रयास, बहुत ही आश्चर्यजनक है। मुझे गिरमिटियों की जीवटता अब अधिक अच्छी तरह से समझ में आने लगी। क्यों और कैसे वे शर्तबंध नृशंस अनुभवों पर विजय पाकर बचे रहे, यह भी मुझे समझ में आ गया। आजा ने, एक अन्जान और दूरस्थ देश में जहां वे भाग्यवश आ गए थे, अपने वृहत परिवार और संप्रदाय के सुरक्षा-कवच के बिना, उन्होंने, अपना जीवन चाकू की धार पर जिया। पर भाग्य के अनुदार रवैये ने, उनमें, कटुता नहीं भरी। इसके विपरीत, उन्होंने, बड़ी दृढ़ता और साहस से पुनः जीवन

आरम्भ करने की चुनौती सहर्ष स्वीकार की। यही उनकी सबसे महत्वपूर्ण और चिरस्थायी देन है।

नई दिल्ली के नवधनाढ्य और लखनऊ के बकवास करते हुए नवाब, अपने निर्धन ग्रामीण 'भैयों' को सभ्य समाज की बाह्य सीमाओं पर ही रखते हैं। वे समझते हैं कि पूरब के लोग साहसहीन एवं अयोग्य हैं जिन्हें देखकर शर्म आती है और जो राष्ट्र के लिए धब्बा हैं। ऐसे लोग निर्दयी और क्रूर भूल के भागी हैं। यह वही लोग हैं, जिनके गिरमिटिया भाइयों ने, उपनिवेशों में, जाति और संप्रदाय की दम घोंटती जंज़ीरों को तोड़ फेंका और अपने खून-पसीने से तृतीय विश्व के कई नये राष्ट्रों की नींव रखी। उनके बच्चे और पोता-पोती अपने-अपने चुने हुए व्यवसायों में शिरोमणी साबित हुए हैं : सर सिओसागर रामगुलाम, छेदी जगन, श्रीदत्त रामफल, रोहन कन्हाई, वी.एस. नायपॉल। गिरमिटिया लोगों में कोई आधारभूत कमी नहीं थी, ठीक वैसे ही जैसे पूर्वी उत्तर प्रदेश के 'भैयों' में भी कोई कमी नहीं है। उनके द्वारा बनायी गई पद्धति और सिद्धान्त गलत थे, जिन्होंने उन लोगों को स्थायी दासता की जिंदगी बसर करने के लिए मजबूर किया। दुर्भाग्यवश दोनों ही कारण आज भी हमारे साथ मौजूद हैं।

ताबिया

बहुत कुछ खो दिया, फिर भी बहुत कुछ बचा है, और यद्यपि
हम वह शक्ति नहीं, जो पुराने दिनों में
पृथ्वी आकाश एक कर देती, पर जो हैं, वह हैं,
साहस भरे हृदयों की समरूपता,
समय और भाग्य द्वारा निर्बल, पर इच्छा शक्ति में दृढ़,
प्रयत्न हेतु, शोध हेतु, अर्जन हेतु, पर समर्पण हेतु नहीं।

ऐल्फ्रेड लॉर्ड टेनिसन, 'यूलीसीज़'

मैं अपने बाबा या आजा का सबसे प्रिय पोता था। मेरे दो बड़े भाई पैदा होते समय ही भगवान को प्यारे हो गए थे। आजा को इसमें किसी बुरी आत्मा का हाथ मालूम होता था। पुराने ज्ञान के आधार पर उन्होंने गांव की दाई, मरिया को मेरे पैदा होने पर मुझे खरीदने के लिए कहा। उसने, तीन पैसों में मुझे खरीद लिया। मैं बच गया, पुराने तरीके काम कर गए, बुरी आत्मा का असर ख़त्म हो गया था, फिर कोई मौत नहीं हुई। आजा बहुत ही खुश थे। छः दिन बाद जब मुझे दुनिया से मिलाया गया तब मेरी मां ने मुझे छः पैसों में वापस खरीद लिया पर मरिया मुझे अपना बेटा ही मानती रही। सालों बाद, जब मैं विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए जाने वाला था, तब मुझे एक विशेष पूजा करनी पड़ी और मरिया को उपहार देकर उससे अपनी मां के पास वापस जाने की इज़ाजत मांगनी पड़ी। यह भावनापूर्ण पूजा, मां के कहने पर, मुझे सभी रिश्तेदारों और गांव के मुख्य लोगों के सामने करनी पड़ी।

जब मैं गोद ही में था तभी से आजा मेरी देखभाल करते थे। मैं उनके साथ सोता, उन्हीं की थाली में खाता, उनके ही बचपन की कहानियां उनसे सुनता, और नहाने-धोने के लिए उन्हें नदी तक पहुंचाने में मदद करता। वे मुझे मेरे भाई-बहनों से बचाते और मां-बाप से भी। जब मेरे माता-पिता मुझे मेरी शैतानियों के लिए सज़ा देते तब आजा अपनी छड़ी से उन्हें भगा देते। मेरे पिता कहा करते थे कि मेरे और आजा के बीच एक ऐसा विशेष संबंध था जैसा उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था।

आजा के प्रभाव से ही शायद मेरी रुचि बीते हुए दिनों और बातों में जाग्रत हुई थी। एक सुबह, मई 1962, में जब आजा सोते हुए संसार से चले गए तब मैं उनके पास ही था। उनके जाने के बाद हमारे रिश्तेदारों ने आजा की चीज़ों को आपस में बांट लिया—चांदी के थोड़े टुकड़े, खड़ाऊं, चारपाई। मेरे पिता ने आजा की छड़ी और शर्तबंधी मज़दूरी के समय के कुछ सिक्के लिए। वे सिक्के अब भी मेरे पास हैं।

मेरे बाबा एक गिरमिटिया (शर्तबंध मज़दूर) थे। शर्तबंध मज़दूरी समाप्त करने के बाद, उन्होंने अस्तबल सहायक के रूप में कई जगह काम किया—बातीनीकाम, वूनीवू और तुआतुआ, सभी चीनी ज़िले, जो कोलोनियल शुगर रिफाइनिंग मिल के इर्दगिर्द, लबासा की क्वावा नदी के तटों पर बसे थे। उसके बाद वे 1929 में ताबिया आ गए। उनकी शादी का प्रमाणपत्र फटेहाल था और उनकी मूल्यवान चीज़ों में से एक था। उसे वे एक हरे टीन के बक्से में अपने बिस्तर के नीचे रखते थे। उसमें उनकी शादी की तारीख़ 23 सितंबर उसी साल की लिखी थी। शादी के शब्द का अर्थ इस संदर्भ में कुछ पेचीदा है। परिवार में फुसफुसाते हुए और कभी-कभी शर्मिंदगी से यह कहा जाता था कि आजा अपने दोस्त की पत्नी के साथ भाग गए थे। शर्तबंध मज़दूरी के दिनों में, आजा, उसी दोस्त के साथ रहा करते थे। यह स्वाभाविक था। गन्ने के फार्मों या बाग़ानों पर औरतों की कमी के कारण यह अकसर हुआ करता था। दोनों आदमी मित्र बने रहे और गिरमिट खत्म होने के बाद भी मिलते रहे। आजी, साफ रंग की, छोटे कद की थीं। उनके नाक-नक्श तीखे थे, गुस्सा तेज़ था और माथे पर हमेशा शिकन रहती थी। वे, दोनों मित्रों के मिलने के समय अपने को अलग ही रखतीं थीं। आजा उन्हें 'पगली' कहा करते थे।

1932 में आजा को 10 एकड़ ज़मीन निजी पट्टे पर मिल गई। यूरोपियन भू-मापक, जिसे सीमाओं का भरपूर ज्ञान हुआ करता था, ने पास की कुछ खेतिहर और पहाड़ी ज़मीन के कुछ और एकड़ मिलाने का इशारा किया पर आजा ने मना कर दिया। मुझे उनका कहना याद है कि आवश्यकता से अधिक रखना पाप है। भू-मापक ने बहुत कहा पर आजा नहीं माने। उन्हें परेशानी थी कि गांव के अन्य लोग अपनी बकरियां, और गायें कहां चरायेंगे या खाना बनाने के लिए लकड़ी कहां से काटेंगे? उनका यह निर्णय हमारे लिए एक श्राप और वरदान दोनों सिद्ध हुआ। श्राप इसलिए क्योंकि छोटे फार्म के कारण हम हमेशा ग़रीबी में रहे और दो भाइयों और एक दर्जन स्कूल जाने वाले बच्चों के संयुक्त परिवार को फार्म पाल नहीं सका। वरदान इसलिए क्योंकि इसी कारणवश हम और गांव के अन्य परिवार जीवनयापन के अन्य विकल्पों को ढूंढ़ने के लिए बाध्य हुए। बड़ा फार्म होता तो संभवतः हम सब अभी भी उसी फार्म पर रह रहे होते। उसी फार्म पर हम सभी पैदा हुए, बड़े हुए। ताबिया में मेरा बचपन बीता था, जो आज क्षणिक यादों की एक भूलभुलैया है।

गिरमिट के बाद जिस ताबिया में आजा आए थे वह एक अविकसित जगह थी। तब वहां गन्ना नहीं उगाया जाता था। उसकी खेती बाद में करीब 1950 के दशक में शुरू हुई। इसलिए पहले यहां बहुत आय नहीं होती थी। सी.एस.आर. के तुआतुआ के फार्मों पर काम करने के लिए लोगों को दोनों तरफ सात मील पैदल चलकर जाना पड़ता था। उस समय न सड़कें थीं, न पुल और न ही कोई यातायात के साधन। इसीलिए बाहरी दुनिया से कम ही सम्पर्क रहता था। लोग मक्का, दालें, चावल और सब्ज़ियां उगाते और तैयार माल को अपने कंधों पर लादकर नौ मील दूर नासिया के बाज़ार में ले जाते। इसी बात के बल पर पुराने लोग नवयुवकों को अकसर ताना देते रहते थे—अपनी परेशानियों की कथा बताने के लिए नहीं वरन् उन युवाओं को उनकी शारीरिक अयोग्यता का एहसास दिलाने के लिए। 1950 के दशक के बाद से ताबिया में इतना परिवर्तन हुआ कि उसे पहचानना मुश्किल हो गया। तारकोल का बना जनपथ अब उसके बीचों बीच से निकलता है, पाइप से जल आता है और बिजली भी है, प्राइमरी और सेकन्ड्री स्कूल हैं, लोगों ने दूर-दूर यात्राएं की हैं और कुछ के विदेशों से संबंध भी हैं। छप्पर और बांस की झोपड़ियों की जगह पक्के मकान बन गए हैं, पुराने कपड़े जैसे लंहगा, धोती और पगड़ी ग़ायब हो गए हैं। रेडियो और टेलीविज़न के माध्यम से आधुनिक संसार का अब ताबिया से सम्पर्क भी है जिसे एक पीढ़ी पहले सोचा भी नहीं जा सकता था। पहले के बड़े-बड़े भूस्वामी जैसे गुड्डू लाल, राम दयाल, फीजी लाल, और ट्रकों और टैक्सियों के मालिक—वे सब भी अब नहीं हैं। एक समय था जब पूरा गांव उनसे जलता था। अब ताबिया फीजी की अन्य भारतीय बस्तियों की तरह ही हो गया है।

मैं ताबिया को गांव ही कह कर बुलाता हूं पर सच्चाई यह है कि वह अलग-अलग बस्तियों का एक समूह है जिसे प्रशासनिक दृष्टि से एक नाम दे दिया गया है। ये बस्तियां हैं—वातूदोवा, वूनीवासिया, लांगीरी, सोईसोई, मोवो और ताबिया ख़ास। बाहरियों के लिए यह आंतरिक विभाजन कोई मायने नहीं रखते थे। हम सब उनके लिए मटर के दानों की तरह एक से थे। पर हम में भेदभाव बहुत थे और सॉकर या संगीत के आपसी मुकाबलों में ये अन्तर और तीव्रता से दृष्टिगोचर होते थे। मुकाबले के दिनों में लोग जल्दी ही अपना आपा खो देते और विपक्षी टीमें एक-दूसरे को ताना देतीं रहतीं। विभिन्न बस्तियों के बीच बद्धता भी साफ़-साफ़ दृष्टिगोचर होती थी। उदाहरणार्थ, ख़ास ताबिया के लोग अपने को उच्चकोटि का मानते थे। उनके पास गांव में स्कूल, मस्जिद और गरम पानी का झरना था। इस झरने पर श्रद्धालु हिंदू शिवरात्रि में शिव की उपासना के लिए ख़ास पूजन-अर्चन करते थे। कई बुज़ुर्ग नेता वहीं के रहने वाले थे। हम वूनीवासिया में रहते थे, और मुझे याद है कि हम अपनी शारीरिक शक्ति की कमी और लड़ाई में पीछे रहने की वजह से हमेशा हंसी के पात्र बने रहते थे। ऐसे लोग, जो हमारे दोस्त नहीं थे, हमें वूनिया

कहते थे। अशक्त बधिया बैल की तरह। पर हम, अपने को नदी के पार बसी लांगीरी बस्ती के लोगों से ऊपर मानते थे। और सोईसोई या मोवो से तो निश्चित तौर पर हम हर मायने में ऊपर थे। सोईसोई एक अर्ध सामंतीय गांव था। वह अपने में सक्षम था और वहां कुछ दबंग परिवार निर्विरोध सत्ता हथियाए हुए थे। मोवो तो दूर समुद्र और अमराई के पास दक्षिणी भारतीयों की बस्ती थी तथा अन्य बस्तियों से उसका अधिक सम्पर्क नहीं था।

एकाकीपन और गलत मान्यताओं की पुरानी सीमाएं अब नये विकास में धुंधली पड़ती जा रहीं थीं। पूरी बस्ती के लिए नये स्कूल का निर्माण लोगों में निकटता ला रहा था। वे बारी-बारी से स्कूल को साफ़ रखने, स्कूल की नई इमारतें बनाने और स्कूल के लिए चंदा इकट्ठा करने में अपना योगदान देते थे। एक केंद्रीय चावल मिल या सभी सामानों से भरी एक दुकान विभिन्न गांवों के बीच आपसी सम्पर्क बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुई। उसी तरह ग्रामीण विकास कमेटी ने भी लोगों को एक करने में योगदान दिया क्योंकि लोग अपना प्रतिनिधि सबसे योग्य व्यक्ति को ही चुनते थे, चाहे वह कहीं भी रहता हो। नासिया के विकास ने भी दूरस्थ लोगों को आपस में बांधा क्योंकि ताबिया की एकमात्र सॉकर टीम पूरे वानुआलेवू में मुकाबलों में भाग लेने के लिए जाती थी। ताबिया, लबासा के 'जेसी सप्ताह', मच्छर कैम्पेन, संगम त्यौहार और मिस लबासा जैसी गतिविधियों में भाग लेता था। 1960 के दशक की शुरुआत तक, वे बस्तियां जिनका अलग-अलग इतिहास था और विकास का स्तर भी अलग था, काफी कुछ एकता के सूत्र में बंध चुकीं थीं।

ताबिया अधिकांश रूप से भारतीयों की बस्ती थी। वहां के लोगों की मेहनत और पहल करने की आदत की वज़ह से ताबिया अपने में एक सक्षम बस्ती थी जिसे बाहर से कोई सहायता की ज़रूरत नहीं थी। बड़े-बूढ़े सरकार पर विश्वास नहीं करते थे। अधिक पढ़े-लिखे न होने के कारण कई लोगों को ज़िला प्रशासन की कार्यवाहियों के बारे में पता ही नहीं था। अफ़सरों से खुद बातचीत नहीं कर पाते थे जबकि वही अफ़सर उनके जीवन के महत्वपूर्ण निर्णय लेते थे। गिरमिट के अनुभव की लंबी छाया उनके जीवन पर अब भी प्रभाव डाले हुए थी। अधिकांश रूप से वे खुद अपने सब काम संभालना चाहते थे। सीमा विवादों, भटके हुए मवेशियों से हुए खेतों को नुकसान का मुआवज़ा, आपसी झगड़ों, जवान मर्दों की उन्मुक्तता को लगाम देना, चोर-उचक्कों से गांव को सावधान रखना—यह सभी काम गांव के बड़े खुद ही करते थे। लोग निर्णय का अधिकार गांव के आदरणीय बड़ों को सौंप देते थे जो पंचायत बनाते थे। यह पांच लोगों की कमेटी होती थी जो आवश्यकता पड़ने पर आपस में मिला करती थी। अधिकांश रूप से उनके निर्णयों के खिलाफ़ कोई नहीं जाता था। कोई आदमी अपने को पंचायत से अगर स्वतंत्र रखना चाहता था तो उसे उसकी भारी कीमत चुकानी पड़ती थी। गांव वाले उसका बहिष्कार कर सकते

थे, कोई भी उसके घर में ब्याह-शादी या किसी और समारोह में भाग नहीं ले सकता था। गांव के सम्मेलनों में भी उसका बहिष्कार किया जाता। उसका गन्ना सबसे अन्त में कटता। धमकियों का उसके लिए अन्त नहीं था। पंचायत के विरुद्ध जाने के लिए बहुत हिम्मत चाहिए थी। कुछ ही ऐसा कर पाते थे।

पंचायत, झगड़ों का निपटारा ही नहीं करती थी वरन् सामाजिक कानून और नैतिकता को भी लागू करवाती थी। अगर एक बार किसी परिवार ने किसी बात का वायदा कर दिया--जैसे शादी करने का, तब उसके सदस्यों को उसे निभाना ही पड़ता था। धार्मिक गुटों को अपनी धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति में सावधान रहना पड़ता था ताकि दूसरे गुटों की भावनाओं को ठेस न पहुंचे। लोगों को मवेशी और सुअर को मारने के लिए दूर जाने के लिए कहा जाता था। धार्मिक मामलों में आपसी तनाव के कारणों में बड़ी सावधानी बरती जाती थी। अधिकतर चीज़ें ठीक-ठाक निपट जातीं थीं। परंतु जैसे-जैसे पुरानी गिरमिट पीढ़ी ख़त्म होने लगी और लोग सरकारी तौर-तरीकों से अवगत होने लगे, जैसे-जैसे परिवार बढ़ने लगे और धन एवं शिक्षा बस्ती में आने लगी, वैसे-वैसे पंचायत की शक्ति भी कम होने लगी। आज वह धुंधली हुई एक याद ही रह गई है।

फीजियन लोग हमारी चेतना की बाहरी सीमा पर ही रहते थे। ताबिया नदी के पास एक फीजियन गांव था पर हमारा उससे कुछ लेना-देना नहीं था। कभी-कभी, किसी जगह जाते समय, जब हम सुरक्षित दूरी से उस गांव को देखते थे तब उसके साफ़-सुथरे बाग़, उसके क़रीने से लाइन में बने झोपड़े, खुशहाल बच्चे, और खुला वातावरण हमें चकित कर देता था। बस यही सीमारेखा थी। मुझे केवल दो फीजियनों की याद है। एक से डरता था, दूसरे को बहुत प्यार करता था।

सिमेसा, हमारे दिलों में खौफ़ भर देता था। वह अधेड़ आयु का स्लेटी बालों वाला आदमी था जो बिना कमीज़ के अपने गांव से चलकर और हमारी बस्ती से होते हुए, कई मील दूर, समुद्र के किनारे, मछली पकड़ने जाता था। एक चाकू और कई भालों से लैस वह हमारे घर के सामने से गुज़रता और सूर्यास्त तक वह सुतली में मछलियों को गले में लपेटे वापस आता। न वह कभी रुकता, न वह किसी से बात करता। एकाकी, झुकी हुई, चुप्पी साधे और थोड़ी रूखी-सी वह आकृति कभी हमारे अभिवादन का जवाब नहीं देती। यही सब उसके रहस्य को और बढ़ा देता था। जब भी हम शैतानी करते, हमें उसी फीजियन का नाम लेकर डराया जाता। 'सिमेसा तुम्हें पकड़ कर ले जाएगा।' इतना कहना ही हमें शांत होकर कहना मानने के लिए बाध्य कर देता।

जिस फीजियन को मैं प्यार से याद करता हूं वह एक महिला थीं—लंबी, काली, चपटी नाक वाली महिला जिन्होंने मेरे पिता को अपना मुंह बोला छोटा भाई बना लिया था। हम उन्हें फुआ (पिताजी की बहन) कहकर बुलाते थे। फुआ का मेरी

मां यानी अपनी भौजी से बड़ा दोस्ताना था और मेरे पिता यानी अपने भैया से बहुत प्यार। अकसर वे उन्हें किसी न किसी बात पर डांटती भी थीं। जब हमें सज़ा मिलनी होती थी तब वे हमेशा हमारी ही तरफ़दारी करती थीं। वे अकसर घर आती थीं और अपने साथ मछलियां, केंकड़े, लातीं और बदले में कपड़े, चावल, चीनी, मसाले और त्यौहारों पर ख़ास उपहार ले जातीं।

मुझे यह विश्वास है कि फीजी में हर भारतीय के घर में एक फीजियन फुआ ज़रूर होती थी। ताबिया छोड़ने के बाद उनकी खबर न लेने का मुझे दुःख है। बस यहीं तक मेरी फीजियनों से देनदारी है, जिसका आज मुझे बहुत अफ़सोस है। हम बच्चों की तरह कभी साथ-साथ नहीं खेल सके। हम अपने भारतीय स्कूलों में पढ़ते थे और फीजियन बच्चे अपने ख़ास प्रोविन्शियल स्कूलों में। दुःख की बात है कि हमारे रास्ते कभी नहीं मिले।

ताबिया, फीजी में एक भारतीय बस्ती तो थी परंतु अधिकांश रूप से हिंदू ही थी—सनातनी, रूढ़िवादी हिंदू। मैं एक रूढ़िवादी हिंदू परिवार में ही पला-बढ़ा था। परंतु सड़क के पार हमारे पड़ोसी, श्री शमशेर अली, मुस्लिम थे। हम उन्हें फूफा कह कर बुलाते। उनके साथ हमारे संबंध अच्छे थे परंतु बहुत क़रीबी नहीं थे।

गाय और सुअर का मुद्दा हमारे बीच दीवार का काम करता था। हमारे लिए गाय पवित्र थी और उनके लिए सुअर दुनिया का सबसे गंदा जानवर। दोनों तरफ के हम उम्र, स्कूल जाने वाले बच्चों के आपसी संबंध अधिक मधुर थे। हम लोग ईद या दीवाली में, और शादियों व जन्मदिनों पर एक-दूसरे से मिलने जाते थे। हम साथ-साथ खेलते और तैरते। शमशेर परिवार को स्कूल में हमारे द्वारा पाई गई सफलता पर बड़ा गर्व था और वे हमारी अच्छी आदतों की खुले आम तारीफ़ किया करते थे। जब मैं समुद्र पार से घर वापस आता तो उस परिवार के वृद्ध व्यक्ति, जिज्ञासा से भरे, साहबों के देश के बारे में प्रश्नों को पूछने के लिए आतुर, हमेशा मिलने आते। यह भी पूछते कि मैं लबासा कब वापस आ रहा हूं। फिर भी हमारे बीच एक पड़ोसी का ही रिश्ता था। एक समुदाय का नहीं। संबंध अब भी मधुर हैं परंतु आज की जवान पीढ़ी को, अपनी धार्मिक पहचान का, पहले से अधिक एहसास हो गया है। रास्ते अलग हो गए हैं।

घर में, हमारे धार्मिक कैलेण्डर के अनुसार विभिन्न प्रकार की पूजा-अर्चना और शुभ अवसरों के लिए समारोह निश्चित थे—जैसे श्रीराम और श्रीकृष्ण के जन्मदिनों को मनाना या कोई मनोकामना पूरी होने पर या किसी यात्रा पर जाने से पहले पूजा करवाना। मां, गरम पानी के झरनों पर, शिवरात्रि बड़ी श्रद्धा से मनातीं थीं—ऐसी श्रद्धा जो हमारी समझ से बाहर थी। गर्भावस्था में मां अधिक श्रद्धालु हो जातीं थीं क्योंकि उनका मानना था कि अच्छे विचार ऐसी हालत में बच्चे के चरित्र पर अच्छा प्रभाव डालेंगे। आधुनिक शोध ने मेरी मां के ग्रामीण ज्ञान की पुष्टि कर दी है। मेरे

पिता जी, परिवार के पंडित द्वारा, आम के पेड़ के नीचे, ख़ासतौर से बनाए गए टीले पर, सत्यनारायण और हनुमान पूजा ज़रूर कराते थे। उस टीले पर एक लाल झंडी लगाकर हम दुनिया को अपनी धार्मिक मानसिकता दर्शाते थे। हमारे मुख्य त्यौहार होली और दीवाली थे। होली जिसे फगुआ भी कहा जाता था, बसंत ऋतु के बाद, पंद्रह दिनों के लिए मनायी जाती थी। हम, दुष्ट होलिका का पुतला जलाते और ढोलक, मंजीरा और धंधताल पर चुने हुए गाने गाते थे। आख़िरी दिन घर-घर जाकर, गाना गाते और एक-दूसरे पर रंग डालते।

रोशनी का त्यौहार, हमारा प्रिय था। उन दिनों, दीवाली, व्यापार की वस्तु नहीं बन पायी थी। उस दिन मां बहुत सबेरे उठकर तरह-तरह के मिष्ठान और सब्ज़ियां बनातीं—गुलाबजामुन, लौकी की मिठाई, हलुवा, घुघरी, पूड़ी, गुलगुले, बड़ा, कढ़ी। उस दिन बच्चों से अच्छा व्यवहार बरतने के लिए कहा जाता था। रोने, लड़ने या एक-दूसरे को बुरा-भला कहने के लिए मना किया जाता क्योंकि यह माना जाता था कि हम उस दिन जैसा व्यवहार करेंगे वैसा ही हमको स्वयं सारे साल मिलेगा। हम बड़ी निष्ठा से यह आज्ञा मानते। शाम को दीए जलाते और लक्ष्मीजी की पूजा करते ताकि हमारे जीवन और स्कूल दोनों में हमारा भाग्योदय हो। जब दीयों की चमक चांद रहित रात को जगमगा देती तब हम घर में बने हुए पटाके छुड़ाते। आज मुझे यह सोचकर बहुत शर्म आती है कि मैं एक मेंढक के मुंह के अंदर पटाका रखकर दूर जाकर उसका फटना देखा करता था।

रामायण पाठ, गांव के सामाजिक और धार्मिक जीवन का अभिन्न अंग था और पूरे संप्रदाय को एकता में बांधे रखता था। हर बस्ती की अपनी मण्डली होती थी। कई बस्तियों में कई मण्डलियां हुआ करती थीं जो दूरस्थ इलाकों में जाती थीं। रामकथा हमारे गांव के लोगों के बीच ही नहीं बल्कि पूरे फीजी के हिंदुओं में लोकप्रिय थी। शायद इसलिए क्योंकि उसकी कहानी सीधी-सादी और नैतिकता पूर्ण थी—महान राजा राम की कहानी। राम हर प्रकार के गुणों और नैतिकता के भण्डार थे। उन्हें चौदह साल का वनवास बिना किसी क़सूर के दिया गया था और वे राक्षस राजा रावण पर एक मुश्किल विजय हासिल कर के घर लौटे थे।

राम हर पुत्र, भाई, पति, शासक के आदर्श थे। राम की कहानी में गिरमिटिया अपनी आशाओं का प्रतिबिंब देखते थे कि एक दिन वे भी अपने वनवास और बाग़ानों के दुखद अनुभवों से मुक्ति पाएंगे। राम पूर्वी उत्तर प्रदेश में स्थित अयोध्या के राजा थे। इसी इलाके से अधिकांश भारतीय प्रवासी फीजी आए थे और इस तरह वे राम के इलाके से भी सामाजिक और सांस्कृतिक एकरूपता महसूस करते थे। अन्य अलौकिक संस्कृत ग्रन्थों के मुकाबले में रामायण अवधी भाषा में लिखी हुई थी जो गंगा और सिंधु नदी के मैदानों में बसने वाले आम पढ़े-लिखे लोगों की भाषा थी। अन्य ग्रन्थ विद्वान लोगों द्वारा ही समझे जा सकते थे। रामायण पाठ एक सामाजिक

क्रिया थी जिसका उच्चारण लोगों के समूह द्वारा, सुर में, हारमोनियम और ढोलक पर किया जाता था। यह मौका सुख देने के साथ-साथ आध्यात्मिक चेतना भी प्रदान करता था जिससे सामाजिक रिश्ते और दृढ़ हो जाते थे।

हर मण्डली के अपने कायदे-कानून थे। हमारी मण्डली चाहती थी कि जो परिवार रामायण पाठ कराये वह अपने घर को आगामी सात दिनों के लिए 'साफ़' रखे। 'साफ़' से मतलब था कि ज़बरदस्ती किसी जानवर को न मारना न घायल करना और उस अवधि में कोई शराब और मांस का सेवन भी नहीं कर सकता था। यह हिदायत आराम से मान ली जाती क्योंकि मांस और शराब दोनों ही बहुत मंहगे थे और साथ ही कानून तोड़ने की सज़ा भी कड़ी थी। जो परिवार ये कानून तोड़ते थे उनके विरुद्ध सामाजिक प्रतिबंध लगाये जा सकते थे या उनका बहिष्कार भी किया जा सकता था। एक ऐसे संप्रदाय में, जिसके सदस्य अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन को बनाए रखने के लिए एक-दूसरे पर निर्भर रहते हों, ऐसे समाज में, यह दोनों शक्तिशाली हथियार के रूप में काम करते थे। पर समय के साथ-साथ नियम भी बदल गए। उन्हें बदलना ही था। जैसे-जैसे लोगों को शहरों में काम मिलने लगा और बस्ती में अधिक धन आने लगा, मांस और दारू पर लगी निषेधाज्ञा भी ढीली पड़ने लगी। कुछ लोग पुराने रीति-रिवाज़ों की कठोरता के कारण धीरज खोकर अलग हो गए और अपनी खुद की मण्डलियां बना लीं जिसमें अधिक उदार नियम रख गए। ज़ाहर-सा बात है कि हर जगह 'स्वच्छ' दिनों की गिनती कम हो गई। आजकल, एक या दो दिन ही बहुत माने जाते हैं।

समय के साथ ब्राह्मणों के हिंदू धर्म के ब्राह्मणीय स्वरूप ने, जिसमें शुद्धता, शाकाहारिता और रीति-रिवाज़ों पर ज़ोर दिया जाता था, पूरी बस्ती को प्रभावित किया पर 1950 के बाद तक भी कई लोग अपनी ही जाति के रीति-रिवाज़ मानते रहे। उदाहरण के लिए एक पड़ोसी, अपनी जाति (चमार) के इष्ट देवता को प्रसन्न करने के लिए हर साल सुअर की बलि चढ़ाता था। कुछ और लोग बकरी और मुर्गियां बलि चढ़ाते। हफ़्ते दो हफ़्ते बाद फिर वही लोग रामायण पाठ भी कराते और कई तरह की पूजा भी करते। उन्हें दोनों चीज़ों में कुछ अलग नहीं लगता था। पुरानी पीढ़ी के साथ बलि चढ़ाने की प्रथा ख़त्म हो गई। परंतु अंधविश्वास और जादू टोने की प्रथाएं कायम रहीं। लोग अपने दुश्मनों पर जादू टोना कराने के लिए ओझे की मदद लेते। सिरदर्द, कुत्ते का काटा, पीलिया आदि को ठीक कराने के लिए लोग डाक्टर के बजाय ओझा के पास जाते। सभी ऐसा करते थे। जिन माता-पिता को बच्चे नहीं होते वे पीर या मुस्लिम ओझा के पास जाते, जो एक तंदुरुस्त मुर्गे के बदले में उनका काम करता। मुर्गे का रंग निश्चित तौर पर बताया जाता (लाल, सफ़ेद, काला)। भूत और दुष्ट आत्माओं का डर तो हमेशा बना रहता और हमें रात में अकेले जाने या सीटी बजाने की मनाही थी। ऐसा माना जाता था, कि सीटी,

रात में दुष्ट आत्माओं को, जो धरती पर विचरते थे, आकर्षित करती थी। इन बातों से पहले की तरह अब उतना डर नहीं लगता है।

कुछ मौकों पर धार्मिक रीति-रिवाज़ों का मानना लोगों को बहुत खुशी देता था। बच्चे का जन्म, ख़ासतौर पर, यदि पहला हो और लड़का हो, तो असीमित उत्सव मनाने का अवसर माना जाता था। बच्चे के जन्म से संबंधित कई रीति-रिवाज़ अब ख़त्म हो गए हैं या बिल्कुल बदल गए हैं। जैसे कि उच्च वर्ग के कई परिवार गर्भ ठहरने पर 'गर्भ संस्कार' किया करते थे। परिवार का पंडित, परिवार के सदस्यों और पड़ोसियों के समक्ष मां और बच्चे की रक्षा के लिए प्रार्थना करता था। यह ज़रूरी था क्योंकि मेरी पीढ़ी के बच्चे घर में पैदा होते थे जहां कोई डाक्टरी सुविधाएं नहीं थीं और न ही कोई ख़ास सफ़ाई का इंतज़ाम। यह रिवाज़ अब लुप्त हो गया है। हम सब जानते थे कि बच्चा होने के छठे दिन छठी का उत्सव मनाया जाता है। उस दिन तक दोनों मां और बच्चे को घर के अंदर ही रखा जाता था, शायद इसलिए क्योंकि पहले के वे छः दिन, दोनों के लिए जान लेवा भी हो सकते थे। छठी वाले दिन लोगों को बच्चे से मिलवाया जाता था। लोग गाने गाते, बच्चे को उपहार मिलते—पाउडर, साबुन, नैपकिन, तेल, कपड़े। मां को परिवार बढ़ाने हेतु साड़ी, गहने, सोने के सिक्के आदि मिलते। अमीर परिवारों में कुछ अधिक सोना दिया जाता।

उस दिन भी परिवार के पंडित से बच्चे की राशि और नाम जानने के लिए सलाह ली जाती। आजकल नामों में आया बदलाव, सामाजिक परिवर्तन का सूचक है। गिरमिटिया नाम कोई निश्चित तरीके से नहीं रखे जाते थे। कई बार लोगों के नाम चीज़ों के नाम पर रख दिए जाते (जैसे तोता, एक भारतीय पक्षी) या कुछ व्यक्तिगत कारण पर (जैसे विपत यानी परेशानी, सुखई मतलब खुशी, या ग़रीब)। सप्ताह के दिनों पर भी नाम रख दिए जाते। मंगल को पैदा हुए बच्चे को मंगल, मंगरा या, माधो बुलाया जाता, बुध को होने वाले को बुधई, बुधराज, और शुक्रवार को जो बच्चा हो तो उसको, सुखराम, सुखदेव आदि बुलाया जाता।

अपने बचपन के नाम देने के तरीकों को गिरमिटिया अब भी अपनाते रहे पर अब वे देवताओं आदि पर भी अपने बच्चों के नाम रखने लगे। इस परिवर्तन को, शायद समाजशास्त्री, निम्न वर्ग द्वारा, उच्च वर्ग में आने का प्रयास कहेंगे। राम अवतार (राम का अवतार), राम शरण (राम की पनाह लेने वाला), शिव प्रसाद (शिव का प्रसाद), राम लखन (राम और लक्ष्मण), अर्जुन और सहदेव (महाभारत से), इंद्रदेव (इंद्र, वर्षा के देवता)। इन नामों से कोई भी किसी की जाति का पता नहीं लगा सकता था। समाज में एकरूपता लाने के लिए, एक सूक्ष्म, परंतु शायद एक सोचा-समझा प्रयास हो रहा था। हमारे माता-पिता एक कदम आगे चले गए और उन्होंने अपने बच्चों के नाम जानीमानी हस्तियों और फिल्मी सितारों पर रखना शुरू कर दिया—जवाहर लाल, राजेंद्र प्रसाद, कमला, अशोक, उमा दत्त आदि। अगली पीढ़ी ने सब रीति-रिवाज़

तोड़कर कोई सांस्कृतिक नाम या कोई ज्योतिष पर आधारित नाम नहीं रखे। उन्होंने ऐसे नाम रखे जो सुनने में आधुनिक और पाश्चात्य हों जैसे शलवेंद्र, अविकेशनी, शायल। उच्च वर्गों में गिने जाने की चाहत की जगह पर पाश्चात्यीकरण की लालसा ले रही थी।

मेरी पीढ़ी के कई बच्चे संयुक्त परिवार में पले-बढ़े थे। गिरमिटिया वही तरीके ज़ारी रखना चाहते थे, जिन्हें वे जानते थे। अतीत को याद रखने और बनाए रखने का उनका यही तरीका था। एक बड़ा सामाजिक संघ (संयुक्त परिवार) सामाजिक और आर्थिक कारणवश ज़रूरी था। निराई, बुआई, गन्ना और चावल बोने के लिए, और पके आमों, तरबूज़ और जड़ वाली फसलों (डालो और कसावा) को चोरों से बचाने, आदि के लिए अधिक लोगों की ज़रूरत पड़ती थी। संयुक्त परिवार समाज में रुतबा और शक्ति का भी सूचक था। जितना बड़ा परिवार होता उतनी ही उसकी आपसी एकबद्धता होती थी, उतना ही गन्ना काटने वाले गुट को वह परिवार प्रभावित भी कर सकता था, और महत्वपूर्ण निर्णय अपने पक्ष में करवा सकता था। पर 1950 के दशक के अन्त और 1960 के दशक की शुरुआत होते-होते संयुक्त परिवार व्यवस्था बिखरने लगी। अधिकांश गिरमिटिया चले गए थे और उन्हीं के साथ रीति-रिवाज़ों का नैतिक बल भी चला गया जो उस व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक था। नये अवसरों और पारिवारिक अनबन ने स्वतंत्र होने की चाहत को जन्म दिया। व्यक्तिगत पगारों पर खुद का नियंत्रण होना भी इस चाहत का कारण बना। कुछ अलग होने के किस्से तो प्रेम से सुलझ गए पर कई लोगों के मसले जब गांव के बड़े-बूढ़े नहीं सुलझा सके, तब उन्हें ज़ायदाद के बंटवारे के लिए न्यायालयों का दरवाज़ा खटखटाना पड़ा। आज संयुक्त परिवार गांव वालों के लिए अतीत की बात हो गई है।

हम में से अधिकांश लोगों के लिए गांव ही हमारा संयुक्त परिवार था। सब लोग या तो चाचा थे या चाची या बड़े भाई और सभी ने सामूहिक रूप से हमें अच्छी बातें सिखाने की ज़िम्मेदारी ले रखी थी। हमारी गल्तियों पर या कोई सामाजिक नियम तोड़ने पर वे सब हमें बुरी तरह डांटते भी थे। हमारे माता-पिता ने कभी इन बातों में हस्तक्षेप नहीं किया। बड़े लोगों को हमने कभी नाम से नहीं बुलाया। यह आदत अभी भी मुझमें है। कभी-कभी उन्हें प्यार का नाम दे दिया जाता जिसे हम उन्हें क्रोधित किए बिना इस्तेमाल कर सकते थे। इस तरह श्री बिसुन किसी कारणवश 'चिल्लर' कहलाते थे और हमारे लिए वे 'चिल्लर काका' थे। शिव प्रसाद को 'डबल ड्राइव' पुकारते थे क्योंकि उनकी दो पत्नियां थी। एक लंबे, पतले आदमी थे, श्री राम सरन, जिन्हें हम 'लम्पट' बुलाते थे। एक दूसरे भी लंबे और काले थे जिन्हें 'रेग्ना' बुलाया जाता था। 'रेग्ना' गन्ने की एक जाति होती है। गांव के महाजन को 'टैंग दूग' बुलाया जाता था। क्यों? मुझे पता नहीं। श्री जय नारायन को मैगलन

कहते थे क्योंकि वे पूरे विश्व के बारे में जानने की असीमित चाह रखते थे। राम दयाल को, ए. डी. पटेल के नाम पर पटेल बुलाया जाता था। ए.डी. पटेल बहुत बड़े क्रिमनल वकील रह चुके थे और राम दयाल में भी न जाने कहां से तथ्य ढूंढ़ कर लाने और अपने पक्ष में बहस जीतने की योग्यता थी।

हम अपने बड़े भाई-बहनों का भी नाम नहीं लेते थे और यह आदत अब भी हमारे परिवार में है। पत्नियां भी अपने पतियों को नाम से नहीं बुलातीं थीं। मेरी मां ने मेरे पिता को कभी उनके नाम से नहीं बुलाया। अगर कोई उनके बारे में पूछे तो वे कहतीं थीं कि 'फलाने के बप्पा खेत में हैं।' जब उनसे वे खुद बात करतीं तो उन्हें 'अरे सुनो' कह कर संबोधित करतीं। लोगों के सामने मेरी मां हमेशा अपना सिर ओढ़नी या शॉल से ढके रहतीं। ऐसा न करना बदतमीज़ी समझी जाती थी और परिवार की बदनामी का कारण बन सकती थी। औरतें पड़ौसियों से बच्चों के माध्यम से ही बात करतीं, कभी सीधे मुंह नहीं। जब ताबिया में बस चलना शुरू हुई तब एक रोचक स्थिति पैदा हो गई। कम उम्र की शादीशुदा औरतें जो अकेली यात्रा कर रहीं होतीं, चालक को सीधे किराया नहीं दे पातीं थीं क्योंकि उनका उससे सीधे बात करना या उससे आंखें मिलाना, कोई सोच भी नहीं सकता था। वे अपने सिर को साड़ी या शॉल से ढकतीं, अपना किराया एक प्लेट पर रखतीं और बैठ जातीं। चालक बचे हुए पैसे किसी और से, अधिकतर किसी बच्चे से, भिजवा देता।

एक औरत का जीवन कड़े नियंत्रण में बीतता। उसकी गतिविधियों का क्षेत्रफल बहुत छोटा था। वह हमेशा या तो मां थी या पुत्री या बहू। उसका अपना व्यक्तिगत अस्तित्व कुछ नहीं था। अपने परिवार की देखभाल करना ही उसकी एकमात्र चिन्ता थी। दुनिया के सामने उसे हमेशा विनम्र रहना पड़ता था, छोटी-सी भी स्वतंत्रता दर्शाने का प्रयास गांव वालों को रास नहीं आता था। पर पारिवारिक मामलों में माताएं और पत्नियां अधिक प्रभावशाली थीं जिसका पता बाहरी लोगों को नहीं लगता था। घर की देखरेख वही करतीं थीं और साथ में खेतों का काम भी, जैसे धान बोना या गन्ने के खेतों की निराई करना। आयु औरतों के लिए पुराने नियंत्रणों से स्वतंत्रता का पैग़ाम लाती ख़ासतौर से उन औरतों के लिए जिनके परिवार सुखी और समृद्धशाली थे। उन्हें मार्गदर्शकों और सभ्यता एवं संस्कृति के ज्ञाताओं के रूप में माना जाता।

मेरी मां बहुत सुंदर लोकगीत गातीं थीं। उन्हें महत्वपूर्ण रीति-रिवाज़ों के बारे में काफ़ी कुछ पता था। बानुआलेवू में फैले हमारे वृहत परिवार में हमेशा कोई न कोई उनसे सलाह लेने के लिए उन्हें बुलाता ही रहता था। शादी के गीत और सोहर गाना उनकी ख़ासियत थी जिसके लिए आज भी उन्हें याद किया जाता है। घर में पूरा परिवार उनके प्रेम से बंधा था और उनकी सलाह और हिदायतें हमेशा मानी जातीं और ली भी जातीं थीं। यद्यपि उनकी सलाह का श्रेय, दुनिया के सामने, उन्हें कभी नहीं दिया गया। हमारे परिवार का दुनियावी चेहरा हमारे पिता ही थे। और

मेरे माता-पिता के बीच आपसी समझ और सहनशीलता इतनी थी कि आज भी कई लोग उनकी बात कर के अचम्भित होते हैं। मेरे पिता न पीते थे और न मांस खाते थे। दूसरी तरफ मेरी मां बीड़ी भी पीतीं थीं और दारू भी (यंगोना या बियर) और मांस भी खातीं थीं। मेरी मां के अंतिम दिनों में, जब वे कमज़ोर हो गई थीं, और बातें भूल जातीं थीं, तब मैं अपने पिता द्वारा मां का 'सुलूका' (घर में बनी बीड़ी) जलाना, बड़े प्यार से याद करता हूं।

शादी, परिवार के इकट्ठा होने का सबसे बड़ा कारण हुआ करता था। आजकल शादी तो सीधा-सादा मामला रह गया है। लड़का और लड़की एक-दूसरे को पसंद कर लेते हैं, अपने माता-पिता को इत्तिला करते हैं और उनकी रज़ामंदी लेकर कोर्ट में शादी कर लेते हैं। बाद में एक धार्मिक अनुष्ठान द्वारा रिश्ता और पक्का कर लिया जाता है। माता-पिता भी सहज ही मान लेते हैं और अपनी ज़िम्मेदारियों की भारी गठरी अपने बच्चों पर डाल देते हैं। यह बदलते समय और आवश्यकताओं का प्रतिबिंब है। अधिकांश विवाहित जोड़े शादी के तुरन्त बाद ही अपना खुद का घरबार स्थापित कर लेते हैं और ऐसा करने में उनकी समाज में कोई बदनामी भी अब नहीं होती। बड़े परिवार उनके लिए बीती हुई बात हो गई है। अपने जोड़े को ढूंढ़ने में, अब, आय और शिक्षा ने सामाजिक इज़्जत और परिवार के आर्थिक स्तर की जगह ले ली है।

नियमों को मनवाने के लिए सामाजिक प्रतिबंधों को अब लागू करना मुश्किल हो गया है। एक पीढ़ी पहले परिस्थितियां अलग थीं। तब शादी का बंधन इतना पवित्र समझा जाता था कि उसे युवा प्रेम के निर्णय पर छोड़ा ही नहीं जा सकता था। शादी, व्यक्तियों का ही नहीं, परिवारों का बंधन था—इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ। वर या वधू, परिवार द्वारा या संप्रदाय के बड़े-बूढ़ों द्वारा ही चुने जाते थे और इस चयन में उस परिवार की नेकनामी का ही मुख्य ख़्याल रखा जाता था। लड़कियों को अच्छे घरों में ही भेजा जाता था क्योंकि एक बार शादी होने के बाद वे वापस नहीं आ सकतीं थीं चाहे जो भी हो जाये। बच्चों को उनकी शादी की सूचना दी जाती थी, उनसे उसके बारे में राय नहीं ली जाती थी। गिरमिट के बहुत सालों बाद तक बाल-विवाह आम बात थी, जैसा कि ग्रामीण भारत में हुआ करता था। मुझे बताया गया है कि मेरे पिता के बड़े भाई अपनी सगाई में अपने चाचा के कंधों पर बैठकर गए थे। मेरी मां की सगाई, तेरह साल में हो गई थी और दो साल बाद विवाह। लड़कियां जल्दी ब्याह दी जातीं थीं। शादी से पहले यदि लड़की भटक जाय तो परिवार की अन्य लड़कियों की शादी में परेशानी होती थी और गांव की जो बदनामी होती थी, सो अलग। और फिर ग्रन्थों में, माता-पिता के लिए, कन्यादान तो सबसे बड़ा दान माना गया है।

शादी-ब्याह में परिवार का सामाजिक स्तर बहुत मायने रखता था पर और

भी बातों का ख़्याल रखना पड़ता था। शुरू के वर्षों में जाति का भी ख़्याल रखा जाता था यद्यपि सामाजिक अंग के रूप में जाति का अस्तित्व फ़ीजी में मिट चुका था। प्रवास और गिरमिट ने सबको क़रीब-क़रीब बराबर के स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया था। उच्च जाति के लोगों को अन्तर्जातीय विवाह करने पड़ते थे फिर भी चमार और ब्राह्मण के बीच वैवाहिक संबंध असंभव थे। निम्न जाति के लोग खुद यह नहीं चाहते थे क्योंकि वे सोचते थे कि ऐसा करना पाप होगा और भगवान उन्हें उसकी सज़ा देगा। सदियों से विकसित पुराने विश्वास, नये वातावरण में भी, लोगों की मानसिकता को प्रभावित करते रहे।

जहाज़ी भाइयों या वे गिरमिटिया जो एक जहाज़ पर फ़ीजी आए थे, के परिवारों के बीच विवाह संबंध होना तो बिल्कुल ग़लत माना जाता था। वे एक-दूसरे को सगे भाई की तरह मानते थे और ऐसे संबंध के सभी कर्तव्य और अधिकार भी निभाते थे! पर जैसे-जैसे गिरमिटिया मरने लगे और संप्रदाय फैलने लगा वैसे-वैसे यह रिवाज़ ख़त्म होता चला गया। अन्तरसंस्कृति विवाह भी कम होते थे। उत्तर और दक्षिण भारत के लोग आपस में शादी नहीं करते थे। रंग भी अपना रोल अदा करता था। उत्तरी भारत के थोड़े अधिक साफ रंग के लोग अपने को दक्षिणी भारत के दबे रंग के लोगों से बेहतर मानते थे। सनातनी या रूढ़िवादी हिंदू आर्यसमाजियों या सुधारकों से दूर रहते और यह दूरी आज कम जरूर हुई है पर ख़त्म नहीं हुई है। दक्षिणी भारत के लोगों में मलयाली अपने ही लोगों को पसंद करते थे न कि तमिल या तेलुगू लोगों को। हिंदू मुस्लिम शादियां, पहले और आज भी, लगभग न के बराबर हैं। बाद में मुक्त रूप से आए गुजराती और पंजाबी प्रवासियों से भी रिश्ते नहीं सुने गए। संप्रदाय, एक ही केंद्र वाले कई घेरों का समूह था। हर घेरे का अपना अलग अस्तित्व था और हर घेरा अपने को सुरक्षित रखने के लिए लालायित था। फ़ीजियन लोग भारतीय समाज की बाहरी सीमाओं पर रहते थे और उनसे शादियां करना तो सोच से परे की बात थी।

शादी का उत्सव लंबा चलता था। उसमें आपसी सहयोग और काफ़ी धन की आवश्यकता पड़ती थी। अब यह सब बदल गया है। आजकल अधिकतर शादियां दिन में होती हैं और बारात में दोनों औरतें और आदमी जाते हैं। एक भड़कीला कार्ड शादी के न्यौते के लिए क़रीबी परिवार और मित्रों को भेजा जाता है ताकि वे आएं और नये वर-वधू को आशीर्वाद दें। सभी गांव वालों को अब नहीं बुलाया जाता। मेरे समय में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता था। एक पीढ़ी पहले, शादी लायक बच्चों का पिता पहले अपने परिवार के सदस्यों और संप्रदाय के बड़े-बूढ़ों से बात करता। बात फैलती और कुछ समय बाद, शादी करने के लिए उत्सुक कई लोगों के नाम पता चलते। कई महीनों तक एहतियात से पूछताछ और विचार-विमर्श करके वह सूची छोटी की जाती। जब कोई नाम निश्चित हो जाता तब परिवार के

बड़े-बूढ़े उनके घर मिलने जाते। बातचीत के दौरान लड़की चाय और घर में बनी चीज़ों की ट्रे लेकर आती। सब लोग उसके अध-ढके चेहरे को धीमे से देखते पर कुछ कहते नहीं। पर्दे के पीछे से या चौके में औरतें भी जांच पड़ताल करतीं। लगभग एक हफ़्ते के बाद निर्णय दिया जाता। शादी में पहला अनुष्ठान, मुख्य उत्सव के तीन हफ़्ते पहले होता था जिसे 'तिलक' कहा जाता था और जो सगाई के बराबर था। लावा भुजनी संयोजन का सूचक था। दोनों तरफ के लोग उसे मिलाकर अग्नि में फेंकते। चावल उपजाऊपन का सूचक था। तारीख़ तय होने पर 'नाऊ' को गांव के लोगों को व्यक्तिगत रूप से न्यौता देने के लिए भेजा जाता। न्यौता हल्दी से रंगे पीले चावल के रूप में हुआ करता था। बदले में नाऊ को चावल, दाल, चीनी, नमक और कभी-कभी कपड़ा भी मिलता। अधिकतर नाऊ, किसी ग़रीब परिवार का एक मसख़रा हुआ करता था, जो रीति-रिवाज़ों के बारे में सलाह देता और दूल्हे के रक्षक और नौकर के रूप में कार्य करता था।

शादी का वास्तविक अनुष्ठान तीन दिनों तक चलता था। तेलवान, भातवान और शादी। असंख्य गतिविधियों और यंगोना और मीठी चाय के प्यालों के बीच मुझे कुछ चीज़ें अच्छी तरह से याद हैं। सूर्यास्त के समय परिवार की औरतों द्वारा रहस्यमय पूजा-अर्चना करना और परिवार के कोई गुप्त देवता जिसके बारे में पहले कभी नहीं सुना हुआ था, का आशीर्वाद लेना। दूल्हा का हल्दी के दाग़ वाली कमीज़ पहन कर ज़मीन पर घासफूस के बिस्तर पर अपने अविवाहित जीवन के आखिरी दिन सोना। या यूं कहिए कि बुरे दिनों की अपेक्षा में सोना! और भी बातें थीं जैसे—कभी न ख़त्म होने वाली ढोलक की धमक और औरतों का गीतों द्वारा, दुनिया को, शादी के समारोह की सूचना देना, दूसरे दिन के दोपहर के खाने में दूल्हे द्वारा अपनी जूठी थाली का खाना अपने छोटे भाई को देना जिससे लोगों को पता चले कि अगली शादी उसी की होनी है, आदि। इमलीगोठाई के अनुष्ठान के दौरान, अपने लड़के का अधिकार एक दूसरी औरत के सुपुर्द करने के कारण, दुखी मां को उसके भाई द्वारा सांत्वना देना और उसकी आजीवन सुरक्षा करने का वचन देना, भी याद है। 'पागाती' के अनुष्ठान में लड़के की तरफ का कोई बड़ा आदमी, लड़की के गले में माला डालकर यह वचन देता था कि वह एक पिता की तरह उसकी रक्षा करेगा और वहीं पर उससे मरते दम तक न बोलने की क़सम भी खाता था। वह लड़की से तभी बोल सकता था जब वह किसी ख़ास मुश्किल में पड़ जाय और उसका हस्तक्षेप ज़रूरी हो जाय। द्वारपूजा जिसमें लड़की की तरफ के बड़े-बूढ़े रिवाज़ के अनुसार दूल्हे के पैर धोते थे और फिर औरतें उसकी आरती उतार कर उसका अपने वृहत परिवार में स्वागत करतीं थीं। विदाई के समय लड़की के परिवार वालों की हृदय हिला देने वाली रुलाई भी मुझे याद है। विदाई में, लड़की, नये लोगों के बीच, जीवन शुरू करने के लिए चल देती है जहां से वह फिर कभी वापस नहीं आ सकती।

नाल हमेशा के लिए कट चुकी होती है।

विवाह अनुष्ठान के बारे में कुछ चीज़ें बहुत बाद तक भी मेरे लिए एक रहस्य बनी रहीं। जैसे वे रिवाज़ जो मण्डप के बनाने के समय के थे, मुझे बहुत दिनों तक समझ में नहीं आए। मण्डप वह जगह होती है जहां शादी का वास्तविक अनुष्ठान होता है। मिट्टी का एक टीला-सा बनाया जाता जिसे गोबर से लीपा जाता और कोनों में क्रेप कागज़ में लिपटे चार बांस लगाकर एक चौकोर जगह बनायी जाती। टीले के बीचोंबीच में केले का तना गाड़ा जाता और उसके इर्दगिर्द बांस की डंडियां रखीं जातीं। लड़की और लड़के, दोनों के मां-बाप मिलकर केले का तना लगाते थे और यह उन दोनों परिवारों की एकता का सूचक था। मण्डप की मिट्टी की ज़मीन पर रंगे चावल फैलाये जाते। यह सब क्यों होता था? मुझे मालूम चला कि केले का पेड़ जल्दी मरता नहीं है और इधर-उधर जल्दी उग आता है। इसलिए वह परिवार के वृक्ष का चिरंजीवी होने का सूचक था। बांस झुकता है टूटता नहीं और आशा की जाती थी कि इसी तरह नया परिवार भी करेगा। चावल, उर्वरता की निशानी था और गरी का गोला देवताओं के लिए सबसे पवित्र चढ़ावा माना जाता था क्योंकि उसका पानी मनुष्य के हाथों से अनछुआ रहता था। गोबर, गऊ माता से आता था इसलिए हिंदुओं के हिसाब से वह पवित्र था। आजकल, अधिकतर शादियां किराये पर लिए गए हॉल में होतीं हैं और मुख्य अनुष्ठान के लिए जो रीति-रिवाज़ पहले बहुत ज़रूरी माने जाते थे, वे अब भुला दिए गए हैं।

फिर भी कुछ चीज़ें नहीं बदली हैं। उनमें से अच्छी शिक्षा पाने की अभिलाषा, एक है। आज, ताबिया के पास सब चीज़ों से सम्पन्न एक सेकन्ड्री कॉलेज और एक फूलता-फलता प्राइमरी स्कूल होने का गौरव प्राप्त है, जिनके छात्र, आज, लबासा संप्रदाय के जाने-माने सदस्य हैं। कुछ तो ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और उत्तरी अमेरिका में बस गए हैं। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है ख़ासतौर पर जब यह ध्यान में रखा जाय कि शुरूआत कितनी दीनहीन और गड्डमड्ड थी। शुरू से ही, गांव के लोगों को, जो खुद अनपढ़ थे, पढ़ाई-लिखाई का महत्व मालूम था, पर कुछ नहीं हुआ क्योंकि उनके पास न पैसे थे और न महत्वपूर्ण आदमियों से कोई संबंध। औपनिवेशिक सरकार इस तरफ से लापरवाह थी क्योंकि वह चाहती थी कि भारतीय, बाग़ानों में ही बने रहें। पर गांव के लोगों के कुछ और ही विचार थे, क्योंकि उन्हें पता था कि पट्टे पर ली गई ज़मीन में उनके बच्चों का कोई भविष्य नहीं है। अपनी मदद आप और तीव्र आकांक्षाओं ने इस दिशा में शुरूआत कराई। सहदेव और बुतरू पढ़े-लिखे गिरमिटिया थे। जो कुछ उन्हें पढ़ना-लिखना आता था वह उन्होंने लोगों को सिखाया। बदले में, वे, लोगों से घर के काम, लकड़ी काटना, मवेशियों को खाना देना, कुएं से पानी लाना, जैसी सहायता लेते थे।

1943 में भारत से एक वृद्ध व्यक्ति, साधू शरण दास, गांव आए। वे एक

मिलने जाते। बातचीत के दौरान लड़की चाय और घर में बनी आती। सब लोग उसके अध-ढके चेहरे को धीमे से देखते पर के पीछे से या चौके में औरतें भी जांच पड़ताल करतीं। लगभग निर्णय दिया जाता। शादी में पहला अनुष्ठान, मुख्य उत्सव के था जिसे 'तिलक' कहा जाता था और जो सगाई के बराबर योजन का सूचक था। दोनों तरफ के लोग उसे मिलाकर अग्नि जाऊपन का सूचक था। तारीख़ तय होने पर 'नाऊ' को गांव तगत रूप से न्यौता देने के लिए भेजा जाता। न्यौता हल्दी से रूप में हुआ करता था। बदले में नाऊ को चावल, दाल, चीनी, कपड़ा भी मिलता। अधिकतर नाऊ. किसी ग़रीब परिवार का करता था, जो रीति-रिवाज़ों के बारे में सलाह देता और दूल्हे के के रूप में कार्य करता था।

स्तविक अनुष्ठान तीन दिनों तक चलता था। तेलवान, भातवान गतिविधियों और यंगोना और मीठी चाय के प्यालों के बीच ठीक तरह से याद हैं। सूर्यास्त के समय परिवार की औरतों द्वारा ना करना और परिवार के कोई गुप्त देवता जिसके बारे में पहले था, का आशीर्वाद लेना। दूल्हा का हल्दी के दाग़ वाली कमीज़ र बांसकूस के बिस्तर पर अपने अविवाहित जीवन के आखिरी हि कि बुरे दिनों की अपेक्षा में सोना! और भी बातें थीं जैसे--कभी तिलक की धमक और औरतों का गीतों द्वारा, दुनिया को, शादी ना देना, दूसरे दिन के दोपहर के खाने में दूल्हे द्वारा अपनी जूठी अपने छोटे भाई को देना जिससे लोगों को पता चले कि अगली है, आदि। इमलीगोठाई के अनुष्ठान के दौरान, अपने लड़के दूसरी औरत के सुपुर्द करने के कारण, दुखी मां को उसके भाई और उसकी आजीवन सुरक्षा करने का वचन देना, भी याद है। अनुष्ठान में लड़के की तरफ का कोई बड़ा आदमी, लड़की के गले वचन देता था कि वह एक पिता की तरह उसकी रक्षा करेगा मरते दम तक न बोलने की क़सम भी खाता था। वह लड़की था जब वह किसी ख़ास मुश्किल में पड़ जाय और उसका हस्तक्षेप पूजा जिसमें लड़की की तरफ के बड़े-बूढ़े रिवाज़ के अनुसार और फिर औरतें उसकी आरती उतार कर उसका अपने वृहत करती थीं। विदाई के समय लड़की के परिवार वालों की हृदय मुझे याद है। विदाई में, लड़की, नये लोगों के बीच, जीवन छोड़ देती है जहां से वह फिर कभी वापस नहीं आ सकती।

नाल हमेशा के लिए कट चुकी होती है।

विवाह अनुष्ठान के बारे में कुछ चीज़ें बहुत बाद तक भी मेरे लिए एक रहस्य बनी रहीं। जैसे वे रिवाज़ जो मण्डप के बनाने के समय के थे, मुझे बहुत दिनों तक समझ में नहीं आए। मण्डप वह जगह होती है जहां शादी का वास्तविक अनुष्ठान होता है। मिट्टी का एक टीला-सा बनाया जाता जिसे गोबर से लीपा जाता और कोनों में क्रेप कागज़ में लिपटे चार बांस लगाकर एक चौकोर जगह बनायी जाती। टीले के बीचोंबीच में केले का तना गाड़ा जाता और उसके इर्दगिर्द बांस की डंडियां रखी जातीं। लड़की और लड़के, दोनों के मां-बाप मिलकर केले का तना लगाते थे और यह उन दोनों परिवारों की एकता का सूचक था। मण्डप की मिट्टी की ज़मीन पर रंगे चावल फैलाये जाते। यह सब क्यों होता था? मुझे मालूम चला कि केले का पेड़ जल्दी मरता नहीं है और इधर-उधर जल्दी उग आता है। इसलिए वह परिवार के वृक्ष का चिरंजीवी होने का सूचक था। बांस झुकता है टूटता नहीं और आशा की जाती थी कि इसी तरह नया परिवार भी करेगा। चावल, उर्वरता की निशानी था और गरी का गोला देवताओं के लिए सबसे पवित्र चढ़ावा माना जाता था क्योंकि उसका पानी मनुष्य के हाथों से अनछुआ रहता था। गोवर, गऊ माता से आता था इसलिए हिंदुओं के हिसाब से वह पवित्र था। आजकल, अधिकतर शादियां किराये पर लिए गए हॉल में होतीं हैं और मुख्य अनष्ठान के लिए जो रीति-रिवाज पहले बहुत ज़रूरी माने जाते थे, वे अब भुला दिए गए हैं।

फिर भी कुछ चीज़ें नहीं बदली हैं। उनमें से अच्छी शिक्षा पाने की अभिलाषा, एक है। आज, ताबिया के पास सब चीज़ों से सम्पन्न एक सेकन्ड्री कॉलेज और एक फूलता-फलता प्राइमरी स्कूल होने का गौरव प्राप्त है, जिनके छात्र, आज, लबासा संप्रदाय के जाने-माने सदस्य हैं। कुछ तो ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और उत्तरी अमेरिका में बस गए हैं। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है ख़ासतौर पर जब यह ध्यान में रखा जाय कि शुरूआत कितनी दीनहीन और गड्डमड्ड थी। शुरू से ही, गांव के लोगों को, जो खुद अनपढ़ थे, पढ़ाई-लिखाई का महत्व मालूम था, पर कुछ नहीं हुआ क्योंकि उनके पास न पैसे थे और न महत्वपूर्ण आदमियों से कोई संबंध। औपनिवेशिक सरकार इस तरफ से लापरवाह थी क्योंकि वह चाहती थी कि भारतीय, बाग़ानों में ही बने रहें। पर गांव के लोगों के कुछ और ही विचार थे, क्योंकि उन्हें पता था कि पट्टे पर ली गई ज़मीन में उनके बच्चों का कोई भविष्य नहीं है। अपनी मदद आप और तीव्र आकांक्षाओं ने इस दिशा में शुरूआत कराई। सहदेव और बुतरू पढ़े-लिखे गिरमिटिया थे। जो कुछ उन्हें पढ़ना-लिखना आता था वह उन्होंने लोगों को सिखाया। बदले में, वे, लोगों से घर के काम, लकड़ी काटना, मवेशियों को खाना देना, कुएं से पानी लाना, जैसी सहायता लेते थे।

1943 में भारत से एक वृद्ध व्यक्ति, साधू शरण दास, गांव आए। वे एक

साल के सांस्कृतिक दौरे पर फीजी आए थे। उन्होंने गांव में एक स्कूल की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। एक गांव वाले को उनकी शिक्षा याद रही : 'सब मनुष्य बराबर हैं, उनसे प्रेम करो और उनकी सेवा करो। अपने स्रोत को याद रखो और अपनी पहचान बनाए रखो।' अगर सोचिए तो उस समय में यह शब्द क्रांतिकारी ही थे। साधू ने लोगों को प्रेरित किया। चंदा इकट्ठा हुआ। एक गांव वाले ने पांच एकड़ ज़मीन दान में दी और ताबिया सनातनधर्म स्कूल शुरू हुआ। अपने नाम और हिंदुओं की बहुसंख्या के बावजूद, इस स्कूल में सभी पंथ के लोग थे। उसके मुख्य शिक्षकों में मुस्लिम थे (मुंशी, आशिक हुसैन), एक पंजाबी था (मेहर सिंह), क्रिश्चियन थे (साइमन नांगिया, ऑस्टिन सीताराम), दक्षिणी भारतीय भी थे (सुब्रमनी गाउण्डन, गोपाल पिल्ले)। शिक्षक का अच्छा चरित्र उसके धर्म से अधिक महत्व रखता था। यह नज़रिया अब भी नहीं बदला है। यद्यपि अब साम्प्रदायिकता से प्रेरित होकर लोग यही चाहते हैं कि स्कूल का अध्यक्ष सनातनी हिंदू ही हो।

स्कूल ने, सम्पूर्ण संप्रदाय को एकताबद्ध किया और लोगों को गर्व का एहसास भी कराया। उसके खेल के मैदानों में विभिन्न बस्तियों के बीच मुक़ाबले होते, नाटकों का मंचन होता तथा राम और कृष्ण के जन्मदिन जैसे त्यौहार भी मनाये जाते। मुझे याद है कि हनुमान की सेना में, जो लंका पर आक्रमण करने की योजना बना रही थी, मैंने भी एक बंदर का रोल अदा किया था। उपमहाद्वीप से आए महत्वपूर्ण लोगों और धार्मिक नेताओं के लगभग सप्ताह भर चलने वाले प्रवचनों का कार्यक्रम भी इन्हीं मैदानों में आयोजित होता। खेल के मैदान में हम बच्चे टाटपट्टियों पर बैठकर कोलोनियल शुगर रिफाइनिंग कंपनी की चलित फिल्म सेवा द्वारा दिखाये गए दस्तावेज़ी चलचित्र देखते, जिसमें कंपनी अपनी ही बड़ाई के पुल बांधती। ताबिया सनातन के दिनों की मेरी यादें बेहद खुशनुमा हैं—गुल्लीडंडा खेलने के लिए जल्दी स्कूल आना, सॉकर या राउण्डर्स, दोपहर में सोने का कार्यक्रम, कक्षाओं के आपसी तीव्र परंतु बिल्कुल बेसुरे संगीत मुकाबले, स्कूल में कई महीनों तक डेरा डालकर निर्धारित पुस्तकों को, जानलेवा प्रवेश परीक्षाओं के लिए कंठस्थ करना, पढ़ाई के मामले में स्कूल के उच्च स्तर को बनाए रखने का मेरे ऊपर अत्यधिक दबाव होना, स्कूल के हैडबॉय के रूप में छोटे बच्चों को डराना-धमकाना, छोटी कक्षाओं के लिए कभी-कभी टीचर की ग़ैरमौजूदगी में शिक्षक का भी रोल अदा करना।

यादें बरक़रार हैं, साथ ही 1950 और 1960 के दशकों में पढ़ी गई किताबें भी, जो हमने प्राइमरी में पढ़ी थीं। पहले ग्रेड में, हमने, 'कैरीबियन रीडर्स' से शुरूआत की। वे चित्र पुस्तकें थीं और उनकी प्रस्तावना में लिखा था, 'वेस्टइंडीज़, ब्रिटिश हॉन्ड्यूराज़ और ब्रिटिश गुआयना के बच्चों के लिए।' उसमें मिस्टर जो और उनके पशु-परिवार के बारे में बताया गया था : मिस्टर टिब्स एक बिल्ला, मुर्गी मां, मिस्टर डेन एक कुत्ता, मिस्टर ग्रम्पस एक बकरा, मास्टर बिली एक सुअर, कड़ी गाय और

पर्सी नाम का मुर्गी का बच्चा, उस पशु-परिवार में शामिल थे। किताब का उद्देश्य, पढ़ने में रुचि और आनंद बढ़ाने का था। उसे पढ़कर मुझे सच में आनंद आया और उस पुस्तक के पात्र मेरे हृदय में हमेशा के लिए बस गए। अगले कुछ वर्षों में हमने 'आक्सफोर्ड इंगलिश रीडर फॉर अफ्रीका' पढ़ी। इन किताबों का मक़सद हमारा शब्द ज्ञान बढ़ाना था और हमें धारा प्रवाह अंग्रेज़ी बोलना सिखाना था। उसके लिए उचित वाक्यों और शब्दों का ज्ञान देने की समुचित व्यवस्था, इन पुस्तकों में थी। उन किताबों में भौगोलिक सीमाओं के परे हमें बाह्य दुनिया के बारे में समझाया गया था।

इस तरह हमने विभिन्न शहरों और ग्रामों के रहन-सहन के तरीकों की कहानियां पढ़ीं, नाना प्रकार के पेड़-पोधे और जानवरों के बारे में जाना, समुद्र और मनुष्य के लिए उनके महत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त किया, दूर स्थानों में संदेश भेजने के तरीके सीखे, दुनिया की प्रसिद्ध नहरों और उनके महत्व के बारे में जाना, डाकघर के महत्व के बारे में पढ़ा, कई प्रकार की इमारतों, पुलों और सड़कों की निर्माण कला के बारे में भी सीखा। हमें, उन किताबों ने इतिहास और साहित्य भी सिखाया—प्राचीन मिस्र, यूनान, रोम आदि से लेकर विलियम प्रथम, वेलिंग्टन के ड्यूक और नेपोलियन तक, कोलंबस और मैगेलन (जिसने दुनिया को विस्तृत कर दिया था) से लेकर शेक्सपियर तक (मरचेन्ट ऑफ वेनिस, जूलियस सीज़र जिसका मार्क एन्टनी का भाषण, मुझे, अब भी याद है। इसे मैंने प्राइमरी स्कूल में कंठस्थ किया था)।

पुस्तकों ने हमें नागरिक कर्तव्य भी सिखाये। छठे ग्रेड में गुड सिटिज़नशिप पर एक निबंध बहुत ज्ञानवर्धक था। उसमें हमें बताया गया था कि राज्य सभ्य समाज की एक प्राकृतिक व्यवस्था है : 'असभ्य लोग भी अपने को मूल रूप से एक राज्य में बांधने की कोशिश करते हैं क्योंकि अकेले रहने में मनुष्य अधिक दिन सुरक्षित और स्वस्थ नहीं रह सकता है। जीवन की आवश्यकताएं पानी, रोटी, मौसम से बचाव और शत्रुओं से सुरक्षा है। आपस में मित्रतापूर्वक रहने से यह सभी आवश्यकताएं पूरी हो सकतीं हैं। इसी कारणवश, पुराने समय में असभ्य लोग भी छोटे और साधारण राज्य में अपने को एकबद्ध करके रहते थे। उस राज्य का शासक या नेता हर मनुष्य को उसके अधिकार दिलाता और हर एक से उसके कर्तव्यों का पालन कराता था।'

राज्य 'हम सब की भलाई के लिए प्रयासरत रहता है' और कर देना हमारा कर्तव्य है, ताकि पुलिस हमारी जान और माल की सुरक्षा कर सके, ताकि न्यायालय हमें इंसाफ दे सकें, ताकि कानून मनवाये जा सकें। 'अच्छा नागरिक वह है जो एक कुशल गृहस्वामी है, एक अच्छा ग्रामीण है, एक योग्य शहरी है, और राजा का एक वफ़ादार सेवक है। बुरा नागरिक वह है जो अधिकांश रूप से केवल अपने अधिकारों के बारे में ही सोचता है, अपने साथियों और पड़ोसियों के अधिकारों के बारे में नहीं।' हमें कर्ता बनने की शिक्षा दी जाती विचारक बनने की नहीं—औपनिवेशिक प्रशासन के पहिये का दांता बनना सिखाया जाता था। विडंबना यह है कि जब एशिया, अफ्रीका

और प्रशांत सागर के इलाकों में उपनिवेशवाद का अन्त हो रहा था उसी समय हमें सत्ता के प्रति आदर, अनुशासन, और स्थिति बनाए रखने की सीख दी जा रही थी।

फिर भी, वही किताबें जो हमें नियम-कानून मानना सिखातीं थीं वही हमें अन्य पुस्तकों को पढ़ने और कल्पना के संसार का आनंद भी उठाने के लिए प्रेरित करती थीं। व्यवस्थाओं को बनाए रखने के लिए एक मुक्त दिमाग़ ख़तरा पैदा कर सकता है। ग्रेड पांच के छात्र पढ़ते : "पुस्तकें बहुत आनंददायक होतीं हैं। कुछ पुस्तकें तो सोना-चांदी से भी अधिक मूल्यवान होतीं हैं क्योंकि जो लोग चले गए हैं, उनके द्वारा अर्जित ज्ञान को वे हम तक पहुंचातीं हैं। अगर किताबें न होतीं तो वह ज्ञान भी खो जाता। किताबों के माध्यम से, समुद्र पार दुनिया को, बिना घर से बाहर गए ही, हम जान सकते हैं। पुस्तकों द्वारा हम नई जगहों के उन पहाड़ों, मैदानों, नदियों और दरियाओं के बारे में जान सकते हैं जिन्हें देखने का हम कभी सोच भी नहीं सकते। अगर हमें कोई शक या शुभा है तब हम किताब से सच्चाई का पता लगा सकते हैं। अगर हम किसी चीज़ के बारे में जानकारी चाहते हैं और हमारे शहर में कोई ऐसा नहीं है जो हमारे प्रश्नों का उत्तर दे सके तब हम पुस्तकें खरीदकर सारी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। एक आदमी जिसके पास कुछ अच्छी किताबें हैं, वह एक अमीर आदमी के मुकाबले अधिक वस्तुएं देख सकता है और अधिक दूर यात्रा भी कर सकता है क्योंकि अमीर आदमी जो सिर्फ यात्रा करता है देखी हुई चीज़ें भूल भी सकता है परंतु जो किताबें पढ़ता है वह पढ़ी हुई बात कभी नहीं भूल सकता। इसलिए सभी किताबें आदर की पात्र हैं। हमें उन्हें ज़मीन पर नहीं फेंकना चाहिए और उन्हें गंदा नहीं करना चाहिए। हमें उन्हें मोड़ना नहीं चाहिए ताकि पन्ने निकल कर गिर न जाएं। हमें उनके पृष्ठ फाड़ने नहीं चाहिये। जब हम पुस्तक पढ़ चुकें तब उसे, हमें, संभाल कर रखना चाहिए क्योंकि उसमें लिखी बातें कभी भूल जाने पर हम उसे पुनः पढ़ना चाहेंगे। संसार के समस्त ज्ञान का भंडार पुस्तकें होतीं हैं। अगर हम अच्छी किताबें खरीदें तो हमें बड़े-बड़े विचारकों, इंजीनियरों और वैज्ञानिकों की दोस्ती प्राप्त हो सकती है।"

अपने जीवन के शुरूआती दौर में ही उक्त सलाह ने मुझे बहुत प्रभावित किया था। किताबों के सुंदर वाक्य दिमाग़ में असाधारण और लुभावनी तस्वीरें खींचते—हाथियों, चीतों, बंजर भूमि, महलों आदि की और जो मुझ पर जादुई प्रभाव डालते। यद्यपि, हम एक छोटे और निर्धन गांव में रहते थे, तथापि मैं बाहरी संसार की कल्पना कर सकता था, उसका हिस्सा बन सकता था। हमें बाह्य विश्व से एकबद्धता का एहसास होता और नक्शे पर ब्रिटिश साम्राज्य को अंकित करने वाले लाल बिंदुओं को देख-कर हम गर्व महसूस करते। हमें, उपनिवेशों के एक सुखी परिवार का हिस्सा होने का सुखद एहसास होता।

जब भी, जहां भी, मुझे मौका मिलता, मैं पढ़ता, चाहे तब, जब मैं सड़क के

किनारे मवेशी चरा रहा होता या देर रात में, ढिबरी की लौ की सहायता से। किताबों में पढ़े हुए विभिन्न पात्रों से वार्तालाप करता, उत्तरी ध्रुव के इलाके में रहने वाले एस्किमो लोगों से बातें करता। केफ़रॉन के पिरामिड, मध्य अफ्रीका में रहने वाले बौना जाति (पिगमी, जिनके बारे में हमें बताया गया था कि वे पिछड़ी जाति के हैं), ब्रिटनी के बड़े पत्थर, विशाल स्टीमर और ख़ूबसूरत लड़ाकू जहाज़ों की कल्पना करता। मुझे कुछ लोग किताबी कीड़ा कहते। शेक्सपियर, टेनिसन, और मैथ्यू आरनॉल्ड मेरी आंतरिक दुनिया के और मेरे ताबिया के, साथी थे, और अब भी हैं। बाद में उनके नामों के साथ वी.एस. नाइपॉल, जॉर्ज एलियट, जॉन स्टीनबेक आदि के नाम भी जुड़ गए।

अंग्रेज़ी किताबों में हमारी तात्कालिक सांस्कृतिक दुनिया की कोई ख़ास छवि नहीं थी। वह हमें हिंदी पोथियों में मिली—पंडित अमि चंद्र द्वारा लिखित किताबों में। सादगी से लिखी हुई इन पुस्तकों ने हमारा परिचय हिंदी पद्य, भारतीय लोक कहानियों, प्रार्थनाओं (जिन्हें हम रोज़ सुबह कक्षा शुरू होने से पहले कहते थे) और भारत के ऐतिहासिक और पौराणिक नायक और नायिकाओं से कराया जैसे सती सावित्री, लक्ष्मीबाई, श्रीराम की कहानी, महाभारत के कई प्रसंग, मुग़ल सम्राट अकबर और औरंगज़ेब और उनके महान कार्य, ताजमहल की भव्य सुंदरता आदि। कहीं-कहीं पर उन्होंने फीजी में भारतीय जीवन पर भी कुछ लेख लिखे थे परंतु इस विषय पर उन्होंने बहुत नहीं लिखा। शायद इसलिए क्योंकि यह विषय कुछ विवादास्पद था। शायद इसलिए भी क्योंकि इस विषय को लोग पढ़ने योग्य नहीं समझते थे। अपने घर और बगियों को साफ-सुथरा रखने, शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता, और अच्छे पड़ोसी संबंध बनाए रखने की व्यवहारिक सलाहें भी, हमें, पुस्तकों से मिलतीं। अच्छी नागरिकता का अर्थ सत्ता के अनुसार चलना, बड़ों का आदर, अधिक लोगों की भलाई के लिए अपने स्वार्थों का बलिदान करना, व्यक्तिगत व्यावसायिक प्रतिष्ठान—सब कुछ हमने पुस्तकों से सीखा। पुस्तकों ने, हम में, अपने इतिहास और परंपराओं के प्रति गर्व भी जाग्रत किया। यह पुस्तकें स्कूली बच्चों के लिए थीं। पर, वास्तव में, पूरे संप्रदाय को ही उन्होंने ज्ञान का दान दिया क्योंकि अनपढ़ माता-पिता अपने बच्चों से अपने पूर्वजों की कथाओं को पढ़कर सुनाने के लिए कहते। इन्हीं किताबों ने मुझे भारतीय संस्कृति, इतिहास और भाषा में रुचि जाग्रत हुई। मैं किताबों का कृतज्ञ हूं कि उन्होंने हमारे दृष्टिकोण को व्यापक किया, हमारी परिकल्पना की उड़ान को बढ़ावा दिया और हमें समस्त मनुष्य जाति का हिस्सा होने का एक एहसास दिया। मेरी पीढ़ी के लोग जब मिलते हैं तब हम उन किताबों को फिर दोहराते हैं जिन्हें हमने कभी कंठस्थ किया था। हमारे बच्चे, हमें ऐसा करते हुए देखकर, हंसते हैं। जैसे दारू और दारू पीने वालों पर कविता (पीकर मड़क मड़कची एक, चला कहीं को लाठी टेक), केलों पर कविता (लंबा फल होता है केला, मीठा फल होता है केला,

इसको खा खुश होते बच्चे, मां से पेनी लेते बच्चे) या साइकिलों पर कविता (दो पहिये की साइकिल, दौड़ लगाती खेल, देना पड़ता है नहीं, इसमें पानी तेल)।

उच्च शिक्षा के लिए जब मैं सूवा आया और फिर विदेश, तब, ताबिया से मेरा संबंध टूट गया। माता-पिता और मेरे भाई 'बेन' की मृत्यु से मेरी भावनात्मक कड़ी कमज़ोर पड़ गई। हर बार लौटने पर, मैं, उन लोगों के बीच अपने को अजनबी-सा महसूस करता, जिनके साथ, मैं पला-बढ़ा था। उन लोगों की सोच से परे, मैं, ऐसे तजुर्बों से प्रभावित हुआ था, जिन्होंने मुझे बदल दिया था। मैं कई बार सोचता हूं कि हमें उस जगह से कैसे छुटकारा मिला और आज का अपना जीवन हमने आख़िर किस तरह प्राप्त किया? भाग्य, मौका, संयोग? मेरी पीढ़ी का लक्ष्य शायद 'एक बार में एक कदम' था। मेरी यात्रा असंभव प्रतीत हो सकती है परंतु वह अपवाद नहीं है। ब्यौरे अलग हो सकते हैं, कई बिंदुओं पर हट कर विवरण हो सकता है परंतु हमारे जीवन के परिवर्तन की मोटी-मोटी बातें मेरी पीढ़ी के लिए लगभग एक-सी ही हैं। हमने उन बाधाओं पर विजय प्राप्त की जिनको जीतने का सपना भी हमारे माता-पिता कभी नहीं देख सकते थे। कम आय वाला एक सरकारी कर्मचारी, बैंक क्लर्क या भाग्यशाली हुए तो सेकन्डरी स्कूल में अध्यापक, इससे आगे तो वे हमारे बारे में सोच भी नहीं सकते थे। हम एक दिन अपना ही काला पानी लांघ कर कुलांबरों (सी. एस. आर. के बाग़ानों के अफ़सर) के देश में जाकर रहेंगे—ऐसी तो उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

जो दुनिया हमें विरासत में मिली और जिस दुनिया में हम आज रह रहे हैं—दोनों के बीच का फ़ासला, मेरी पीढ़ी के लोगों के लिए, इससे अधिक नहीं हो सकता था। मेरी यात्रा, ताबिया से शुरू हुई। उसने मेरे भाग्य को बनाया पर मेरी मंज़िल को नहीं।

शादी

एक गरम दोपहर में भोला और उसकी पत्नी, सुखराजी, अपनी झोपड़ी के दालान में आराम कर रहे थे। तभी उनका पड़ोसी ननका वहां आ पहुंचा। 'राम राम भाई,' उसने भोला से, एक लकड़ी के क्रेट पर बैठते हुए, कहा। सुखराजी चौके में चाय बनाने के लिए भागी। भोला और ननका गांव के मामलों पर आपस में बतियाने लगे। तीन तामचीनी के प्यालों में लाल चाय लेकर जब सुखराजी वापस आई तब ननका ने उसकी तरफ देखकर पूछा, 'एक बात कहूं भौजी?' 'हां, बाबू।' सुखराजी ने गांव के आदमियों को कभी नाम लेकर नहीं बुलाया। हमेशा बाबू या बड़कऊ कहा—अपने पति के छोटे या बड़े भाई के रूप में। यही गांव का चलन था। 'देवा अब शादी के लिए तैयार हो गया है,' ननका बोला और शरारती ढंग से उसने आगे कहा, 'और तुम कोई जवान भी नहीं हुई जा रही हो। भोला के अलावा, तुम्हारी देखरेख के लिए, तुम्हें कोई और भी चाहिए।' गांव के लोग ननका को मुंहछुट्टा, बकर-बकर करने वाला, भोला मस्खरा, नपुंसक आशिकमिज़ाज, कहते थे, जिसकी बात को गम्भीरता से लेने की ज़रूरत नहीं थी।

'तुम लोग किस लिए हो?' सुखराजी ने तुरन्त उत्तर दिया। 'वह तुम्हारा भी तो बेटा है।' गांव में यही बात करने का तरीका था। 'सारी ज़िम्मेदारी हम दोनों पर डालने के बजाय तुम लोग क्यों नहीं इस मामले में कुछ करते हो।' 'तुम्हारी आज्ञा के लिए रुका था, भौजी, ननका ने उत्तर दिया। अब सब हो जाएगा, पर एक बात याद रखना, समधिन को पहले हम गले लगाएंगे। समधिन से छाती सबसे पहले हम मिलाव।' 'तुम जो चाहना उसके साथ करना,' सुखराजी ने कहा। 'बस हमारे लड़के के लिए एक अच्छी घरेलू लड़की ढूंढ़ लाओ।'

कुछ समय से भोला भी देवा के भविष्य को लेकर चिन्तित था पर उसने किसी से कुछ कहा नहीं था। उसकी खुद की शादी सत्रह साल पर हो गई थी जबकि देवा तो अब बीस का हो गया था। 'अपने ही बच्चों के दादा तो नहीं बनना चाहोगे,' भोला को बुजुर्गों की यह बात याद आयी। इस उम्र का बिन ब्याहा लड़का तानों का कारण बन जाता था और भोला को अपने दूसरे छोटे बच्चों के बारे में भी तो सोचना था। और फिर जवानी का जुनून कब उसको भटका दे? भोला को अशर्फी

के बेटे झिक्का का ख़्याल हो आया जिसने धानेसर की लड़की को गर्भवती कर दिया था। बेचारी लड़की को तो दूसरे गांव बच्चा गिराने के लिए भेज दिया गया था, पर उसके भाइयों ने तो अपना बदला ले ही लिया। एक रात, जब झिक्का रामायण पाठ सुनकर लौट रहा था तब उसे पकड़ कर, मार-पीट कर, बेहोशी हालत में सड़क के किनारे एक गड्ढा में फेंक दिया था। किसी के मुंह से एक शब्द भी नहीं निकला। किसी ने पुलिस या पंचायत को, मुजरिमों के बारे में कुछ भी नहीं बताया और कोई कभी पकड़ा भी नहीं गया। यही गांव का न्याय था। कठोर, दयाहीन और प्रभावशाली। झिक्का बच तो गया पर डर से बेहाल रहा। देवा अच्छा लड़का था और भोला सब कुछ ऐसे ही बने रहने देना चाहता था।

उस रात खाने के बाद भोला और सुखराजी ने देवा के बारे में बात की। 'ननका बाबू ठीक ही कह रहे थे,' सुखराजी बोली। 'मैं बूढ़ी हो रही हूं। घर में हाथ बंटाने के लिए दूसरा चाहिए हो।' 'उस मस्का लगाने वाले का विश्वास मत करो,' अपनी पत्नी के पास आते हुए भोला ने जवाब दिया। 'अपने को जवान महसूस कराने के लिए यही बात वह सबसे कहता फिरता है। अभी तो तुम दो लड़के और पैदा कर सकती हो।' 'चुप, हिश! बच्चे यह बात सुन लें तो?' जवान बच्चे उस बड़े झोपड़े में बगल के कमरे में सो रहे थे। 'रोज़-रोज़ के कामों से मैं छुट्टी चाहती हूं। सालों से जिन रिश्तेदारों से नहीं मिली हूं उनसे मिलना चाहती हूं। इससे पहले कि बहुत देर हो जाए। और पोता-पोती हो जाएं तो वह भी अच्छा है। गांव में उनके उम्र के सभी लोग बाबा-दादी बन चुके थे।

पोता-पोती! कितनी जल्दी समय निकल गया, भोला ने सोचा। कुछ दिन पहले ही तो उसकी खुद की शादी हुई थी। दोनों ने मिलकर कितना कुछ सहा था : दो शिशुओं की मौत, संयुक्त परिवार का टूटना, मित्रों और रिश्तेदारों की धोखाधड़ी, गरीबी—पर इसके बावजूद परिवार की एका बनी रही थी। परिवार ही तो उसका सब कुछ था—अपने परिवार पर और अपनी पत्नी पर उसे बहुत गर्व था—पत्नी जिसने इन सालों में हमेशा ईमानदारी से उसका साथ निभाया था। 'याद है जब हमारी शादी हुई थी और तुम दुल्हन बनकर पहली बार यहां आई थीं?' भोला ने सुखराजी से पूछा। 'क्या तुझे याद है? मुझे सब याद है जैसे कल ही की बात हो....।'

सुखराजी के माता-पिता, लांग्येर नदी के पार, गन्ने की बस्ती के पास समुद्र के किनारे रहते थे। 1918 में इन्फ्लूइन्ज़ा की बड़ी बीमारी के कुछ साल बाद वे यहां आकर बसे थे। कोई उनके बारे में अधिक नहीं जानता था, क्योंकि वे गन्ना उगाने वालों में से नहीं थे। उसका पिता, चिरिया, एक गिरमिटिया था। सी.एस.आर. कंपनी की तुआतुआ लाइन पर वह एक ट्रेन ड्राइवर रहा था—इसके अलावा और कुछ उसके बारे में मालूम नहीं था। वह ट्रेन ड्राइवर कैसे बना, वह फीजी कब आया, भारत के किस कोने से आया, सब कुछ धुल गया था। जैसे कि उसके कई साथियों

के बारे में भी सब इतिहास धुल-सा गया था। (सुखराजी की मां उसकी शिशु अवस्था में ही चल बसी थीं)। 1930 के दशक में किसी समय उसके पिता की मृत्यु के बाद, उसके कई दूर के रिश्तेदारों ने उसे पाला। उन्होंने उसके साथ अच्छा बरताव किया पर उसे परिवार में अपनी जगह मालूम थी। वह खाना बनाती, सफ़ाई करती, खेत पर भी अपना योगदान देती और चुपचाप अलग रहती।

भोला देवा के बारे में चिन्तित था, पर लड़कियों के माता-पिता के सामने तो और बड़ी समस्या रहती थी। यदि कोई लड़की परिवार का नाम कलंकित करे तो इससे बड़ा दुर्भाग्य उस परिवार के लिए कुछ नहीं हो सकता था। गांव के लोगों के लिए इज्ज़त बहुत मायने रखती थी। मासिक धर्म शुरू होते ही लड़कियों की शादी कर दी जाती थी। ऐसा ही सुखराजी के साथ हुआ। एक दिन उसकी चाची ने कहा, 'लड़की बड़ी हो गई है। वह शादी के लिए तैयार है।' 'तैयार' का मतलब मासिक धर्म का शुरू होना था। गांव के मुखिया, गंगा, से बातचीत की गई। इधर-उधर कहा गया और भोला पर बात आकर अटक गई। उसके परिवार का अच्छा नाम था : कोई चोर, बदमाश या जेल की हवा खाया हुआ परिवार में नहीं था, और जाति भी बराबर की थी : एक कुर्मी था, दूसरा अहीर—दोनों ही बेदाग़ किसान थे। दोनों परिवार के बुज़ुर्ग मिले और उपहारों के आदान-प्रदान के साथ ही रिश्ता पक्का हो गया। तेरह साल पर सुखराजी की सगाई हुई और दो साल बाद वह ब्याहता हो गई। सुखराजी, पूरी तरह से अजनबियों के परिवार में आई थी। एक ऐसे आदमी—लड़का ही कहो—से शादी करके जिसे उसने पहले कभी देखा ही नहीं था। अपने भोले-भाले कंधों पर अपने पूरे परिवार की आशाओं को उठाये हुए, अपने भोले-भाले दिल में यह जानते हुए कि वह उस परिवार में अब कभी वापस नहीं जा सकती, चाहे अब उसके नये घर में उसके साथ कुछ भी हो। उसे वापस कोई नहीं लेगा। कन्या का दान करने के बाद उस दान को कभी वापस नहीं लिया जा सकता था। संबंध पूरी तरह से टूट चुका था।

पहले पहल सुखराजी के लिए सब कुछ ठीक-ठाक नहीं चला। वह सांवली थी, हालांकि नाक-नक्श तीखे थे, जबकि भोला अपनी मां की तरह साफ रंग का था। वे सब उसे हेय दृष्टि से 'करक्की' (सांवली) कहकर बुलाते थे। उसकी सास, जिसे वह बुढ़िया कह कर बुलाती थी, बहुत ज़बर थी, सही मायने में 'कन्टाइन,' सुखराजी को याद आया। बुढ़िया के दिमाग में क्या चल रहा होता था किसी को पता नहीं चल सकता था। भारत से जड़ें उखड़ने के बाद, शायद बुढ़ापे में वह अपने देश के गांव का रहन-सहन यहां पुनर्जीवित करना चाहती थी, जिसमें सास का एकछत्र राज्य चलता था। 'क्या तुम भूल गए किस तरह तुम मुझे पीटते थे जैसे कि मैं सिर्फ एक जानवर होऊं?' सुखराजी ने कुछ कड़ुवाहट से भोला से पूछा। 'सबके लेट जाने के बाद साफ़-सफाई करना, फिर चार बजे रोज़ सुबह उठना। खाना बिल्कुल उसी

तरह बनाना होता था जैसा कि वह चाहतीं थीं—बिना किसी चूक के। एक गल्ती, और कितने बुरे शब्दों से मुझे फटकारतीं थीं : छिनाल, कुतिया, हरामिन।' सुखराजी ने सीधे भोला की तरफ देखा, 'तुमने कभी मेरी तरफ से नहीं बोला, एक बार भी नहीं, उस समय भी नहीं जबकि मैं बेकसूर हुआ करती थी। तुमने हमेशा उन्हीं की तरफदारी करी। हमेशा का आज्ञाकारी पुत्र। याद है जब मैं तीन साल तक गर्भवती नहीं हुई तो किस तरह से सबने ताने मारे थे? बांझ औरत कहा था उन्होंने। याद है वह दिन जब उन्होंने मुझे एक रस्सी देकर फांसी लगाने को कहा था ताकि तुम दूसरी औरत से ब्याह करके बच्चे पैदा कर सको। तुम वहीं खड़े रहे और कुछ नहीं बोले।'

एकाएक बहने वाली इन यादों की बाढ़ को भोला दुःखी मन से सुनता रहा। सुखराजी की कड़ुवाहट और गुस्से के आगे उसके पास कहने के लिए कुछ नहीं था। उसने सच ही कहा था। हां, वह आज्ञाकारी पुत्र था। उसने कभी अपने माता-पिता, ख़ासतौर से अपनी मां का, विरोध नहीं किया। वह उसका इकलौता बेटा था। किसी आदमी को 'जोरू का गुलाम' कह कर बुलाने से बढ़ कर कोई गाली नहीं थी। बीबी को रास्ते पर रखना, चाहे इसके लिए समय-समय पर उसे मारना ही क्यों न पड़े—यही तरीका था अपनी मर्दानगी दिखाने का, यह दिखाने का कि वह घर का मुखिया है, और मां की आंखों में अपनी इज्ज़त बनाए रखने का भी। भोला सुखराजी के चूड़ियों से भरे हाथों की तरफ़ बढ़ा। 'तब समय अलग था पर वह सब बीत गया है। हमने अपना जीवन, कुछ नहीं से बनाया है। यह घर, हमारे बच्चे, हमारा खेत, हमारी नेकनामी—यह सब हमने मिलकर ही तो पाया है। यह सब उतना ही तुम्हारा है जितना कि मेरा। प्रभु की दया से हम लंबे समय तक साथ-साथ रहेंगे।'

सुखराजी अब तक थोड़ा शांत हो चुकी थी। शब्दों ने उसे अंदर से जैसे खाली सा कर दिया था। अब जबकि वह खुद सास बनने वाली थी, उसने पहली बार अपने दुःख भरे दिनों के बारे में इतनी सच्चाई से बोला था। इस पल में, अपने रिश्ते की सच्चाई को सामने लाने में उसे एक अजीब-सी शक्ति और मुक्ति का एहसास हुआ। उसके मन में कोई कड़ुवाहट नहीं थी। अपने दिल के किसी कोने में उसने अपने पति को उसके दुर्व्यवहार के लिए माफ़ कर दिया था। भोला एक अच्छा पति और पिता साबित हुआ था। वैसे भी, उसके पास जो कुछ भी था, वही था।

एक हफ़्ते के बाद भोला का बड़ा सौतेला भाई, राम बिहारी, उससे मिलने आया। राम बिहारी सात मील दूर बाईलेवू में रहता था पर बड़े होने के नाते वह अभी भी परिवार का मुखिया था। परिवार—पूरे लबासा में फैला हुआ संयुक्त परिवार—बिना उसकी रज़ामंदी के कोई बड़ा फ़ैसला नहीं लेता था। जब भी जहां उसकी ज़रूरत होती थी वह वहां पहुंच जाता था। वह परिवार का प्रतिनिधि और सूत्रधार था। रिवाज़ के अनुसार काली चाय पीने के बाद, भोला बोला, 'भैया, देवा

की शादी करने का समय आ गया है। वह नये जीवन की शुरूआत के लिए तैयार है। यदि आपको कोई परिवार पता हो....।' उसकी बात समाप्त होने से पहले ही राम बिहारी बोला, 'मुझे पता है। मुझे पता है। मैं आज इसीलिए तो आया हूं। इसके बारे में ननका ने मुझे उस दिन बाज़ार में बताया था।' भोला ने राहत महसूस की। 'नवंबर ठीक समय हो सकता है,' उसने कहा। 'तब तक धान कट चुका होगा और गन्ना भी। खर्चे के लिए मुनासिब पैसा रहेगा और हमारे पास सब ज़रूरी इन्तज़ाम करने के लिए करीब छः महीने का वक़्त भी।'

'मुझे बोदर या बुदैसू में किसी के बारे में पता नहीं है,' राम बिहारी ने कहा। 'बीच में कुछ परिवार होंगे जो मुझसे छूट गए होंगे पर चूंकि मैंने उनके बारे में नहीं सुना है इसलिए वे बहुत ख़ास नहीं हो सकते। तुम तो मुझे जानते हो।' भोला जानता था। पूरे लबासा में राम बिहारी को लोग अच्छी तरह से जानते थे, और उन सब लोगों को वह जानता था जिनका थोड़ा भी महत्व था। अपने गांव की रामायण मंडली का वह सभापति था, ज़िला सलाहकारी कमेटी का सदस्य था, वाईलेवू प्राइमरी स्कूल का पेट्रन था। वह हम लोगों के लिए कोई उपयुक्त रिश्ता ढूंढ़ ही लेगा, भोला ने सोच कर राहत महसूस की।

'हम कोई बहुत ख़ास लड़की नहीं ढूंढ़ रहे हैं', आदर से अपने सिर को हल्के शॉल से ढके हुए सुखराजी ने पीछे के कमरे से कहा। अन्जानों और परिवार के बड़ों के आगे औरतें हमेशा उनकी इज्ज़त में और अपनी सुशीलता के कारण, ऐसा ही करतीं थीं। 'और शिक्षा भी ज़रूरी नहीं है। अपने जैसे घर में पढ़ी-लिखी बहू का हम क्या करेंगे? पैसा भी जरूरी नहीं है। बहुत अमीर घरों की लड़कियों की बहुत उम्मीदें होतीं हैं और वे परेशानियां खड़ी करतीं हैं।' सुखराजी एक शरीफ़ परिवार की लड़की चाहती थीं जो परिवार को बनाए रखे और घर गृहस्थी के बारे में जानती हो। फिर उसे एक और बात सूझी। 'जब तक वह लंगड़ी-लूली नहीं है, हम खुश हैं। स्वस्थ हो जैसे गुड्डू की बीबी,' गुड्डू राम बिहारी का बड़ा बेटा था।

राम बिहारी की बंधुत्व चिन्ता के पीछे, एक बहुत चालाक और तिकड़मी दिमाग काम कर रहा था। 'मैंने ड्रेकेती में किसी के बारे में सुना है,' उसने कहा। न भोला और न ही सुखराजी उस जगह के बारे में या वहां पर किसी के बारे में कुछ जानते थे। वहां गन्ने की पैदावार नहीं थी और लोग बस किसी तरह जीवन निर्वाह करते थे। 'एकदम चमार टोला, सही मायने में पिछड़ा हुआ', भोला हंसा। 'हंसो मत, भोला,' राम बिहारी ने आदतन अपने बड़े भाई के अंदाज़ में अपने छोटे भाई को झिड़का। 'मुझे उस जगह के बारे में मालूम है, मुझे वहां के लोगों के बारे में मालूम है।' भोला भूल गया था। राम बिहारी की बड़ी लड़की की शादी सिंगांगा में हुई थी जो ताविया और ड्रेकेती के बीच में पड़ता था। 'कुछ समय की ही बात है, जब ड्रेकेती बहुत आगे निकल जाएगा। तब ताविया कुछ न रहेगा। मैंने सुना है कि कुछ सालों के

अंदर वहां गन्ने के खेत शुरू हो जाएंगे। तब चमार ब्राह्मण बन जाएंगे।' 'नहीं भैया, खाली खिलवाड़ में बोल दिया,' भोला ने कुछ शर्मिंदा होते हुए कहा।

बेशक! राम बिहारी अपनी ही खिचड़ी पका रहा था। ड्रेकेती में एक और पारिवारिक संबंध होना उसके लिए अच्छा था—और अधिक दारू और मुर्गे की दावतें। वहां के लोग अपनी मेहमानदारी के लिए हमेशा से मशहूर रहे थे, बड़े प्रेम से हफ़्तों तक मेहमानों की ख़ातिरदारी करते रहते थे। अगर 'मैत्रीपूर्ण उत्तर' कहीं था तो वह ड्रेकेती ही हो सकता था। साथ ही उसकी बेटी को मिलने-जुलने के लिए एक और परिवार पास में मिल जाता। राम बिहारी के दिमाग में कल्लू का परिवार था। वह उन्हें अच्छी तरह जानता था। जब भी वह सिगांगा अपनी बेटी से मिलने जाता था तब वह वहां भी ज़रूर जाता था। कल्लू की पांच लड़कियां थीं जिसमें से सिर्फ सबसे बड़ी की ही शादी हुई थी। राम बिहारी को कल्लू की पत्नी धनिया बहुत भाती थी। धनिया मसाले के पौधे पर रखा हुआ उसका नाम उसके लिए बिल्कुल उपयुक्त था। वह उसी तरह थी, तेज़, हाज़िर जवाब, शोख़ और कामुक। बिल्कुल खुल्लमखुल्ला। अपनी लच्छेदार बातों से छेड़ती, चिढ़ाती, और लुभाती। राम बिहारी ने अपने मन में सोचा कि यदि मौका मिले तो हो सकता है उसका भाग्य खुल जाय। धनिया आदमियों को अपनी उंगलियों पर नचाती थी।

एक दिन राम बिहारी ने उसके घर के बगल में बिन जोते खेत की तरफ इशारा करते हुए कहा था, 'लगता है, इन खेतों को जोते हुए बहुत समय हो गया है। बरसात से पहले मक्के और दाल की, तुम, अच्छी फसल उगा सकती हो।' बिना पलक झपकाये, धनिया मुस्कुराई, और बोली, 'हां, सही है। पर मैं क्या कर सकती हूं? हमारे यहां तो सब आदमी बेकार हैं। लगता है गांव में कोई ताकत वाले हल ही नहीं रहे। यह हो सकता है कि तुम कुछ दिन रुक कर खेतों को जोत दो,' कामुक निमंत्रण, बिंदास, खुला और उत्तेजित करने वाला था। यह सब सोच कर, राम बिहारी मुस्कुराया। एक दूसरे मौके पर राम बिहारी ने गांव की दुधारी गायों की संख्या के बारे में जब कुछ कहा था तब धनिया ने कहा था, 'सब कितना बेकार है। यहां आदमियों को दूध पीना ही नहीं आता है।' वाकई, यहां बात बन सकती है, राम बिहारी ने मुस्कुराते हुए सोचा था।

एक बार, कल्लू ने राम बिहारी से अपनी बेटियों के लिए शादी लायक लड़कों के बारे में पूछा था। उस समय राम बिहारी को देवा का ख़्याल आया था। 'मेरी बेटियां ही, मेरे बेटे हैं,' कल्लू ने शर्म से कहा था। वे खेतों पर काम करतीं हैं, ज़मीन की जुताई करतीं हैं, खाना पकातीं हैं और घर की साफ़-सफ़ाई भी करतीं हैं। घर चलाने के बारे में वे सब जानतीं हैं। जो कल्लू ने नहीं कहा, वह यह था कि उसकी लड़कियां ज़िद्दी, स्वतंत्र और कामुकता से भरी, मुक्त पंछी भी थीं। वे अपनी मां की बेटियां थीं। उनकी इन्हीं बातों के कारण लोग उनके परिवार में शादी

करने से हिचकिचाते थे। राम बिहारी ने इस सबको अनदेखा कर दिया। 'मैं तुम्हारे लिए सब कुछ करूंगा, भाई। मुझे ऐसा लगता है कि जैसे हम रिश्तेदार लगते हों,' उसने कहा। अभी से रिश्तेदार!

'तुमको खुद उस परिवार से मिल लेना चाहिए, भोला,' राम बिहारी ने अपने छोटे भाई से कहा। 'हम सभी जाएंगे,' भोला ने जवाब दिया। दो हफ्ते बाद, मल्लू की मोटर किराये पर लेकर, वे सब ड्रेकेती जा पहुंचे—भोला, राम बिहारी, ननका और चिल्लर (गांव का दोस्त)। सुखराजी भी जाना चाहती थी पर राम बिहारी ने मना कर दिया। भोला कुछ नहीं बोला। 'शादी तय करना आदमियों का काम है,' राम बिहारी ने परिवार के एक बड़े की हैसियत से कहा। 'इसके अलावा रास्ता लंबा है।' देवा को भी चलने का निमंत्रण नहीं मिला, पर, पहली बार लड़कीवालों के घर जाने में, यह, कोई नई बात नहीं थी। 'यह तो पहली मुलाकात है, बेटा,' राम बिहारी ने देवा से कहा। 'जब बातें तय हो जाएं तब तुम बेशक लड़की से मिल लेना।'

उन सबका वहां बहुत स्वागत हुआ। कल्लू ने मेहमानों की मेहमानदारी में कोई कसर नहीं छोड़ी। कावा और रम की कोई कमी नहीं थी। मेहमानों से मिलने के बाद, धनिया ने, अपनी दूरी बनाए रखी पर राम बिहारी के साथ वह बराबर मुस्कुराती नज़रें और कामुक इशारों का आदान-प्रदान करती रही। मुन्नी, जिस लड़की की शादी होनी थी, चाय और नाश्ता लेकर आयी। 'यही लड़की है,' कल्लू ने कहा। किसी ने सिर उठाकर नहीं देखा। ऐसा नहीं किया जाता था। इसके अलावा कुछ ज़्यादा देखने के लिए था भी नहीं। मुन्नी का चेहरा एक सफेद शॉल से ढका था। 'भगवान ने चाहा तो जल्दी ही वह हमारी भी बिटिया बन जायेगी,' राम बिहारी ने जवाब दिया। अगुआ होने के नाते सारी बातचीत उसी ने की। वह अपने पूरे रंग में था। भोला शुरू से ही कम बोलता था और उसने शायद ही कोई शब्द कहा हो। जैसा राम बिहारी ने आशा की थी, वैसा ही हुआ। लड़के को देखने के लिए उन लोगों का आना तय हो गया।

जब शादी का सभी इंतजाम लगभग पूरा हो चुका था तब जाकर देवा अपनी होने वाली दुल्हन को देख पाया। कल्लू, धनिया और मुन्नी अपने रिश्तेदारों से मिलने के बहाने नानिया आए। एक दूर का--एक बहुत दूर का—डर था कि हो सकता है कि देवा मना कर दे। इतनी बात बढ़ जाने पर लड़की को मना कर देना परिवार के लिए घातक साबित होता। पूछताछ होती और मना होने के कारणों पर कभी खत्म न होने वाली चर्चा। कल्लू कुछ ऐसा नहीं करना चाहता था जिससे उसकी बाकी लड़कियों का भविष्य बिगड़ जाये। अवसर के लिए नई हरी टेरीलीन की पैण्ट, लाल कमीज़ और काले जूतों में तैयार, देवा घबराया हुआ था। 'लौंग हिप' के कैफे में नक्खन लगी ब्रेड और चाय खाते हुए, वह, कनखियों से मुन्नी को देखता रहा। अपने तीखे नाक-नक्श दिखाते हुए वह शर्मा कर मुस्कुराई। गेहुंआं रंग, रस भरे होंठ,

तीखी नाक, और ढका हुआ किन्तु उभरता वक्षस्थल। जो कुछ देवा ने देखा उसे पसंद आया : वह पूरी तरह से फंस चुका था। सुखराजी भी खुश थी। शर्मीली और आज्ञाकारी मुन्नी एक आदर्श बहू साबित होगी। शादी तय हो गई।

'बड़े लड़के के लिए बड़ी शादी,' ननका ने राम बिहारी से कहा, जब वह भोला से हफ्ते भर बाद मिलने आया। 'गांव में अभी तक की सबसे बड़ी,' राम बिहारी ने वायदा किया। 'खूब धूमधमाका। पूरे वाइलेवू को शादी में न्यौता जाएगा। तब वह देखेंगे कि हमारा परिवार क्या है?' अपने संयुक्त परिवार की नुमाइश करना सभी शादियों का अभिन्न अंग होता था। परिवार की शक्ति और एकता की नुमाइश। और इससे राम बिहारी की इज्ज़त को भी कोई नुकसान नहीं होता। भोला चिन्तित था। उसका हाथ तंग नहीं था पर वह बेकार के दिखावे में भी विश्वास नहीं करता था।

गांव के मित्र और पड़ोसी, और संयुक्त परिवार के सदस्यों के बारे में ही वह सोच रहा था। शादी का कार्यक्रम तीन दिनों का होगा, न कि हफ्ते भर का। उसे बहुत बड़ी शादियां, समय और पैसे की फिजूलखर्ची लगतीं थीं। खर्चा निपटाने के लिए उसे कर्ज़ा लेना पड़ेगा। उसे अपने, दूसरे स्कूल जाने वाले बच्चों के बारे में भी सोचना होगा। फिर भी देवा उसका सबसे बड़ा पुत्र था और यह परिवार की पहली शादी थी। इसके अलावा, बड़े भाई साहब की बात को कौन काट सकता था?

शादी बहुत धूम-धाम से हुई। सैकड़ों लोग आए। बारात को ड्रेकेती ले जाने के लिए तीन बसें किराये पर मंगाई गईं। परिवार के मुख्य सदस्यों के लिए दो टैक्सियां भी। कल्लू ने भी खर्चे में कोई कसर नहीं छोड़ी। सबसे अच्छी नाचनेवालियां और कव्वाल बुलाये गए। यंगोना बहती रही और खाना भी स्वादिष्ट और भरपूर रहा : कढ़ी, पूड़ी, ज़ीरा-दाल, कद्दू, इमली और टमाटर की चटनी। मेहमान प्रभावित हुए, वे लोग भी, जो सब शादियों के जाने-माने मेहमानों में गिने जाते थे। 'तो फिर दूसरी शादी कब हो रही है, भोला भाई,' एक ने कहा, 'तुमने तो सोना पा लिया। ऐसा रिश्तेदार हर किसी को मिलना चाहिए।'

पूरे हफ्ते सुखराजी भावुक-सी रही। दूसरी औरत को अपना बेटा सौंपने पर थोड़ी दुःखी भी रही। पर जब तक बारात लौटी तब तक उसका मन स्थिर हो चुका था। मुन्नी कितनी प्यारी लग रही है, उसने सोचा। लाल साड़ी में गुड़िया की तरह सजी, हाथों और पैरों में रची मेंहदी, और मांग में भरा सिंदूर। कुछ पलों के लिए, उसे, उतने सात पहले, अपने ब्याह के दिन याद हो आए। औरतें, जवान लड़कियां और लड़के सब दुल्हन की एक झलक पाना चाह रहे थे। गांव की औरतों ने दुल्हन को मुंह दिखाई में छोटे-छोटे उपहार दिए। बाद में वे उसके रंग, कपड़े, ज़ेवर और दहेज़ पर टिप्पणियां करेंगीं : गांव के परपंच का मसाला।

आख़िरकार सास बनने पर सुखराजी बहुत गर्व महसूस कर रही थी। उसने मुन्नी को खिचड़ी (दाल और चावल से बना एक सादा परंपरागत खाना) बनाने में मदद की। यही पहली चीज़ अधिकतर नई दुल्हन पकाती थी। यह नई बहू के खाना बनाने की परीक्षा कम, एक रीति अधिक थी ताकि गांव वालों और रिश्तेदारों को जतलाया जा सके कि बहू खाना बना सकती है और एक अच्छी गृहणी साबित होगी। शाम को उन तबके लिए, जिन्होंने शादी में मदद की थी, एक बकरा काटा गया और बियर का दौर पर दौर चला।

अगले कुछ दिनों में जब मेहमान और रिश्तेदार जाने लगे, तब टीन शेड उतारा गया और पड़ोसियों के बड़े-बड़े खाना बनाने के बरतन वापस भेजे गए। भोला के घर में जीवन सामान्य होने लगा। अपनी परेशानियों की याद करके सुखराजी ने अपनी बहू से नम्र व्यवहार किया। एक धीरजपूर्ण गुरू की तरह उसने मुन्नी को घर के तौर-तरीके सिखाये। भोला को किस तरह का बना खाना पसंद था, उसकी रोटी में कितना घी, सब्ज़ी में कितना नमक, चाय में कितनी चीनी। उसने मुन्नी को पड़ोसियों से मिलवाया और गांव की शादियों और जन्मदिनों में भी उसे साथ लेकर गई। वह मुन्नी को भविष्य के लिए परिवार की 'मां' के रूप में ढाल रही थी।

फिर सब कुछ बदलने लगा। छोटी-छोटी बातों में मुन्नी अपनी उदण्डता दर्शाने लगी। वह केवल अपने और देवा के ही कपड़े धोती। वह अपने घर में अलग, अपना खाना, आदमियों के खाने से पहले ही खा लेती। अपने दोनों के लिए मांस के अच्छे टुकड़े छुपा देती। सुबह जल्दी उठकर परिवार के लिए नाश्ता बनाने से, उसने, इंकार कर दिया। आए दिन सिरदर्द या कई अजीब-सी बीमारियां उसे लगी रहतीं। सुखराजी सब देखती थी पर वह चिन्तित नहीं थी। ऐसा होगा, उसने नहीं सोचा था, पर समय बदल गया था और फिर अभी तो शुरूआत के दिन थे।

एक दिन, जब सुखराजी ने मुन्नी से अपने दुखते हुए कंधे को दबाने के लिए कहा, तब मुन्नी बिफर उठी। 'तुम्हें, हो क्या गया है? जब से मैं आयी हूं तब से एक न एक बीमारी तुम्हारे लगी रहती है। हमेशा चाहती हो कि मैं तुम्हारी हां हजूरी करूं। अपने पति से कहो कि वह तुम्हारे कूल्हे दबाये। मैं तुम्हारी नौकरानी नहीं हूं।' और हांफती हुई अपने घर के अंदर चली गई। सुखराजी भौंचक्की होकर, रोने लगी। सब कुछ एकदम से जो हो गया—उसकी भाषा, उसका गुस्सा, उसकी बदतमीज़ी! पुराने दिनों में तो मुन्नी की खाल ही खींच ली जाती। 'हो सकता है वह किसी बात से परेशान हो,' भोला ने सुखराजी से कहा, 'मैं देवा से बात करूंगा।' दूसरे दिन, भोला की देवा से बात होने से पहले ही, मुन्नी ने देवा को एक दिन पहले हुई कहासुनी के बारे में बता दिया था। देवा जानता था, कि मुन्नी की ज़्यादा काम करने की शिकायतें बढ़ाचढ़ा कर की गई हैं। उसे पता था कि उसके पिता हमेशा पानी भर कर लाते थे और छोटे भाई लकड़ी काट कर। उसकी मां अपने और छोटे भाई-बहिनों

के कपड़े खुद धोती थीं। ताबिया के सभी घरों से अधिक, उसके घर में, सब मदद करते थे। पर बीबी के साथ एका बनाए रखने की इच्छा से, वह कुछ नहीं बोला।

देवा के मस्तिष्क में कुछ और भी घूम रहा था। उसके बाद वाला भाई, तोता, सेकन्डरी स्कूल के पहले साल में था। देवा को यह अच्छा नहीं लगता था। वह चाहता था कि तोता, खेत पर, उसका हाथ बंटाये, ताकि देवा के पास भी कुछ समय अपने लिए बचे। 'तोता को देखिए', देवा ने भोला से कहा। 'सूटबूट पहने रहता है और यहां मैं शरीर तोड़ मेहनत, बेकार ही करता हूं। किसके लिए? किस लिए? उसकी पढ़ाई-लिखाई मेरे लिए किस काम की? अगर वह स्कूल छोड़कर खेत पर काम करे तो हम सब के लिए अच्छा होगा।'

यह सुनकर भोला दुखी हो उठा। वह निरुत्तर हो गया। उसने पहले कभी देवा को ऐसे बोलते नहीं सुना था। 'एक दिन यह सब तुम्हारा होगा, देवा,' भोला बोला। 'तुम्हें पता है कि यह खेत तुम सब को नहीं पाल सकता। लड़कों को पढ़ाना आसान नहीं है, मुझे पता है, सबके लिए कठिन है, सबसे ज़्यादा तुम्हारे लिए। पर भगवान की दया से और थोड़ा पढ़ाई-लिखाई से लड़के अपने पैरों पर खड़े हो जायेंगे। मैं कैसे उनकी आंखों में देखकर उन्हें स्कूल जाने से रोक सकता हूं जबकि हम सब को पता है कि उनका यहां कोई भविष्य नहीं है। भगवान हमें कभी माफ़ नहीं करेगा।'

'पर मेरा और मेरे भविष्य का क्या,' देवा ने पूछा। तेज़ छात्र होने के बावजूद, उसे, स्कूल छोड़कर खेतों पर काम करना पड़ा था। उसके मन में इस बात की बहुत कड़ुवाहट थी। 'तुमने मुझे पढ़ाई पूरी नहीं करने दी,' उसने शिकायत करते हुए कहा। 'बजाय एक दुःखी मज़दूर के, मैं भी, कुछ बनकर दिखाता।'

'मुझे पता है, देवा। पर वे दिन अलग थे। तुम्हारी मां और मैं तुम्हारे लिए पूरी दुनिया पाना चाहते थे। पर तब हम संयुक्त परिवार में रहते थे। हम कोई भी फ़ैसला अपने आप नहीं कर सकते थे। सब चीजें सोचनी पड़ती थीं। जब, उन सबने, यह तय किया कि तुम्हारा स्कूल छुड़वा दिया जाय, तब मेरे पास उनकी बात मानने के अलावा और कोई चारा नहीं था।' वह आगे बोला, 'मुझे पता है कि हाल में तुम पर बहुत काम पड़ गया है। तुम और बड़की छुट्टी क्यों नहीं ले लेते। जाओ ड्रेकेती में मिल आओ। कुछ समय वहां रह आओ। हम काम चला लेंगे।' जब देवा ने यह बात मुन्नी को रात में बतायी तो वह खुशी से झूम उठी। 'जितनी जल्दी चलें उतना अच्छा है,' उसने कहा, 'इससे पहले कि वे मन बदल लें या तुम्हारे बेकार भाइयों को कुछ हो जाये।'

तीन दिन बाद देवा और मुन्नी ड्रेकेती चले गए। धनिया ने सारी बातें मुन्नी से खोद-खोद कर पूछीं। मुन्नी दुखी थी। कुछ करना होगा। शीघ्र ही कल्लू और धनिया ने एक योजना तैयार कर ली। उनके पास ज़रूरत से अधिक भूमि थी। उसमें से काफी बेकार पड़ी थी। सड़क के पार, पेड़ों से भरी कुछ भूमि, करीब दस एकड़,

वे देवा और मुन्नी को संयुक्त रूप से दे सकते थे। देवा हाथ बंटायेगा, घर में दूसरा मर्द हो जाएगा और सब काम उनकी नज़र के नीचे ही होगा। मुन्नी अपने घर की मालकिन होगी, न कि किसी और घर की दासी।

दूसरे दिन, सुबह, कल्लू ने अपनी योजना, देवा और मुन्नी को बतायी। मुन्नी को अपने कानों पर विश्वास नहीं आया। अपनी ज़मीन! अपना खुद का घर! वह अपनी मालकिन खुद होगी। 'यह तो भगवान की देन है,' उसने अपने आप से कहा। पर देवा बहुत उत्साहित नहीं हुआ। उसमें उत्साह की कमी देखकर सभी को आश्चर्य हुआ। 'तुम क्या सोचते हो, बेटा,' धनिया ने पूछा। 'यह हम सबके लिए अच्छा है। तुम्हारे पास तुम्हारी खुद की ज़मीन हो जायेगी, तुम्हारे खुद के मन की शान्ति। और हमें एक बेटा मिल जाएगा, जो हम हमेशा से चाहते थे।

'बहुत खूब,' देवा ने बिना कोई भावना दिखाये, जवाब दिया। 'यह एकदम से हो गया है। मुझे सोचने दीजिये। 'सोच लो, बेटा,' धनिया ने कहा, 'कोई जल्दी नहीं है।' तब उसने पूछा कि क्या मुन्नी ड्रेकेती में कुछ और हफ्ते रह सकती है। 'हमने एक-दूसरे को बहुत समय से देखा नहीं है। बेचारी को देखो। उसे आराम की बहुत ज़रूरत है।' देवा मान गया।

देवा शुरू से जानता था कि ड्रेकेती उसके लिए नहीं है। कड़ी मेहनत वह कभी नहीं कर सकता था। अन्न बोने के लिए नई ज़मीन को साफ़ करना कोई पिकनिक जैसा नहीं होगा। कम से कम मेहनत करके अपना काम चलाना उसका सिद्धान्त था। पर आलसी होने के बावजूद देवा एक अभिमानी आदमी भी था। ड्रेकेती में वह घर जमाई बनकर रह जाएगा। उसके आत्म-विश्वास को ठेस लगेगी और उसकी स्वतंत्रता भी जाती रहेगी। 'मर्द' होने का उसका अधिकार नहीं रहेगा। देवा ने कुछ और ही सोच रखा था। खेतों के काम से पूरी तरह छुट्टी पाने के लिए, वह मल्लू की मोटर पर ड्राइविंग सीख रहा था ताकि बस ड्राइवर बनने का अपना सपना, वह, पूरा कर सके। आसान काम और अनपढ़ यात्रियों से गलत पर अधिक पैसे कमाने का अवसर, उसे बहुत सुहा रहा था। ड्रेकेती एक ड्राइवर के लिए मरघट जैसा था।

देवा ने, कल्लू के ज़मीन देने के प्रस्ताव के बारे में, अपने माता-पिता से बताया। उन्होंने ज़्यादा कुछ नहीं कहा, पर आशा करते रहे कि देवा ताबिया में ही रहकर, भविष्य में उनके घरबार का कर्ताधर्ता बनेगा। इसके अलावा 'जोरू के गुलाम' की तरह 'घरजमाई' को भी समाज में हिकारत की दृष्टि से देखा जाता था। पर राम बिहारी ने देवा को जाने के लिए प्रेरित किया।

'समय बदल रहा है, भोला' उसने कहा। 'एक छत के नीचे संयुक्त परिवार और एक चूल्हे का होना पुरानी बात हो गई है। कितने दिनों तक देवा तुम्हारे साथ रह सकता है? मेरे बेटों की तरह वह भी एक दिन चला जाएगा। और तब उसके

पास ऐसा प्रस्ताव शायद न हो।' देवा ने तो अपना मन पहले ही बना लिया था।

ड्रेकेती में कल्लू और धनिया अपनी योजना बना रहे थे। वे मुन्नी को फुसलाने में लगे थे, यद्यपि उसकी बहुत ज़रूरत नहीं पड़ी। ताबिया हमेशा उसके लिए एक जंजाल रहेगा, उन्होंने उसे बताया। देवा के भाई-बहन अभी स्कूल जाते थे और उसे उनकी देखभाल करनी पड़ेगी—और अपने बच्चों की भी, जब वे होंगे—बहुत समय तक ऐसा रहेगा, शायद उसके जीवन के सबसे अच्छे वर्ष इसी में निकल जाएं। और यह सब किसलिए? जब मुन्नी ने अपना घरबार अलग करने की बात कही तो धनिया ने बात काटी, 'पर तुम रहोगी कहां? एक छोटे-से, बेकार, ज़मीन के टुकड़े पर, जो इतना भी बड़ा नहीं होगा कि बैंगन उगाये जा सकें।' वह आगे बोली, 'हां, देवा एक दिन ज़मीन पा जाएगा, पर तब तक नहीं, जब तक भोला ज़िंदा है। वह अभी पचास कुछ का है। बीस और साल। बीस और साल नरक के, तुम्हारे लिए। और यह भी ज़रूरी नहीं कि और लड़के अपना हिस्सा उसमें न मांगें।' धनिया बोलती रही। 'सोचो लड़की! कितनी बार तुम शहर या सिनेमा जा पायी हो? कब आखिरी बार तुमने अपने लिए कपड़े खरीदे थे। जब से शादी हुई है, हमसे कितनी बार मिलने आयी हो?'

मां की बात सुनकर, मुन्नी को, ताबिया में उसकी शादी होने का पहला कारण याद आया। वह, वहां, अपनी बहनों के लिए उचित लड़के ढूंढ़ने के उद्देश्य से भेजी गई थी। शिक्षक, क्लर्क, पुलिसवाले, और उसी तरह के कोई भी लड़के जो नकदी कमाते हों। यह बात ड्रेकेती से अधिक ताबिया में आसान पड़ती। और उसका यह भी सपना था कि, वह, बराबर शहर घूमने, सुंदर सामानों से भरी दुकानें देखने और सिनेमा, जाती रहेगी। द्वीप के अन्य कोनों में बसे हुए रिश्तेदारों के पास भी आना-जाना लगा रहेगा। पर ताबिया में, उसे, रोज़मर्रा के उबाऊ गृहस्थी के काम ही मिले—खाना बनाना, साफ़-सफ़ाई करना और हर आदमी की देखभाल करना।

'छोड़ दो उसे', धनिया ने मुन्नी को उकसाया। उसकी बहनों ने भी हां में हां मिलाई। कल्लू ने कुछ नहीं कहा। 'हम सोशल वेलफ़ेयर में जाएंगे। मैं वहां एक बाबू को जानती हूं। मैं उन्हें सब समझाऊंगी। तुम्हें महीने का अच्छा पैसा मिलेगा। और अगर वे पैसा नहीं दे पाये, और तुम जानती हो कि वे नहीं अदा कर पाएंगे, तब देवा को तुम्हारे पास आकर रहना ही पड़ेगा। आख़िरकार तुम खुद की मालकिन होगी।' मुन्नी को यह सब ठीक लगा। किसी भी तरह से उसका कोई घाटा नहीं था। पंद्रह दिनों के बाद जब देवा मुन्नी को लेने आया तब पुराना प्रस्ताव फिर उसके सामने रखा गया। ड्रेकेती में कभी न रह सकने का सही कारण, देवा नहीं बता सका। उसने आधे मन से, कुछ नहीं से जीवन शुरू करने में, परेशानी होने की बात कही। बैल, खेती के औजार, नये घर के बनाने का सामान सब उसे खरीदना पड़ेगा।

'वे सब हमारी परेशानियां हैं, बेटा,' धनिया बोली। 'वह हमारी ज़िम्मेदारी है।'

अभी भी उसकी हिचकिचाहट का अनुभव करके, धनिया आगे बोली, 'तुम्हारा अपने भाई-बहनों के बारे में सोचना बहुत अच्छा है। पर तुम और मुन्नी का क्या, तुम्हारे बच्चों और परिवार का क्या?' धारा प्रवाह धनिया बोलती रही और मुन्नी ज़मीन पर आंखें गड़ाये बैठी रही। 'तुम, अपनी और मुन्नी की ज़िंदगी, उन लोगों के लिए दांव पर लगा रहे हो जो तुम्हारी ज़रूरत के वक़्त, तुम्हारे पास नहीं रहेंगे। वहां तुम्हारा कोई भविष्य नहीं है, बेटा।' 'किसी दिन,' बढ़ते हुए तनाव को कम करने की आशा में देवा ने सभ्यता से कहा। 'तब तक शायद बहुत देर हो जाय,' धनिया ने ज़वाब दिया। यह बात साफ़ थी कि देवा टाल रहा था। उसने अपना मन बना लिया था। ड्रेकेती को रुकना होगा। 'जाओ तैयार हो, चलते हैं,' देवा ने मुन्नी से कहा, 'बस आती होगी।'

'नहीं देवा, तुम जाओ', धनिया ने पहली बार उसके मुंह पर उसका नाम लेते हुए अपने दामाद से कहा। 'जहां के हो वहां वापस चले जाओ। मुन्नी यहीं रहेगी जहां की वह सच में है।' देवा ने मुन्नी की ओर देखा। उसने अपना चेहरा फेर रखा था। उसकी तरफ से धनिया बोल चुकी थी। यह सोच कर कि यह मामूली तनाव है, देवा चला आया। थोड़े दिनों में उन्हें समझ आ जायेगी। पर उन्हें समझ नहीं आई। एक महीने बाद, शंकर और कं. की तरफ से, एक पत्र आया। मुन्नी ने तलाक की मांग की थी।

मास्टरजी

छः बजे शाम का समय, हर फीजी-भारतीय के घर में, एक खास वक़्त होता है। चौके में खाना बनाने की आवाज़ें और खेलते हुए बच्चों की चीखें और हंसी एकाएक बंद हो जातीं हैं, और पूरा परिवार रेडियो के इर्दगिर्द इकट्ठा हो जाता है। मृत्यु की सूचना देने वाला घंटा तीन बार बजता है तथा एक गम्भीर आवाज़ घोषणा करती है : 'दुःख के साथ सूचित किया जाता है....।' दिन की आख़िरी सूचना अकसर लंबी होती थी। उसके समाप्त होने पर, रेडियो की आवाज़ धीमी करके सामान्य बातचीत पुनः शुरू हो जाती। बच्चे इधर-उधर भाग जाते और औरतें चौके के कामों में फिर लग जातीं।

ताबिया में, जहां न बिजली, न पानी और न पक्की सड़कें हैं, जहां कभी कोई रोचक घटना नहीं घटती, वहां लोग स्थानों के अजीबोग़रीब नाम, जिन्हें उन्होंने पहले कभी नहीं सुना, जानकर हैरत में पड़ जाते हैं- डाबोता, ताबुआ : कैसी जगहें होंगीं? या मोतो, या मंगरूरू, या फील्ड 40 आदि कैसे होंगे? लोग सोचते कि वहां किस तरह की हिंदी बोली जाती होगी, कैसे कपड़े वहां लोग पहनते होंगे, कौन-सी फसल उगाते होंगे, क्या खाते होंगे? शिमला और बनारस नाम भ्रमित करते कि भारतीय जगहों के नाम फीजी कैसे आ गए? किसी परिवार से ही नहीं, बल्कि पूरे गांव से ही कोई कभी लबासा छोड़कर नहीं गया। रहस्यात्मक में रचे-बसे आश्चर्यजनक स्थल विलक्षण ही रहते हैं, समझ के किनारों को गुदगुदाते स्थानों के विचार, उन्हें गुदगुदाते रहते थे।

यदि मरने वाले व्यक्ति के बारे में थोड़ी भी जानकारी लोगों को होती, तब उसके परिवार के इतिहास के बारे में कभी न खत्म होने वाली चर्चा, शुरू हो जाती। मृतक के दूर के रिश्तेदार, जो द्वीप के दूरस्थ कोनों में बसे होते थे, उनसे रिश्ता बखाना जाता। अन्त में किसी न किसी की जानकारी मृतक के किसी न किसी रिश्तेदार से निकल ही आती। रिश्ते ढूंढ़ने का यह खेल लोगों को रोज़मर्रा के कामों से कुछ राहत दिलाता, एकाकीपन और दूर पड़े रहने की भावना को कम करता। रिश्तेदार की मौत, चाहे वह दूर का हो या पास का, अलग मसला था। दिनचर्या को पुनर्व्यवस्थित

करके ग़मी में शामिल होने की तैयारी की जाती। लोग ग़मी में शामिल होने को महत्व देते थे : व्यक्तिगत रूप से दिवंगत आत्मा को अलविदा कहने की प्रथा चली आ रही थी। अभी भी यही सही तरीका माना जाता है।

एक शाम को हम सब श्री तुलसी की दुकान के बरामदे में बैठकर कावा पी रहे थे और आने वाली रामलीला के पर्व के बारे में बातचीत कर रहे थे। तभी रेडियो पर मृत्यु की सूचना प्रसारित हुई। 'दुःख के साथ .....।' गिनाये हुए नामों में एक नाम श्री रामसे सीताराम जी का भी था। उनका पता, बुरेटा स्ट्रीट, सामाबुला बताया गया। यह सूवा के पास एक निम्न मध्यम वर्गीय फीजी-भारतीयों का इलाका था। श्रोताओं से प्रार्थना की गई थी कि मृतकों के करीबी रिश्तेदारों को वे सूचित कर दें। 'कृपया इस खबर को ...।' घोषणा के बाद फैली हुई चुप्पी को देखकर ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कि श्री सीताराम, ताबिया के ही निवासी रहे हों : श्री सीताराम ताबिया सनातन धर्म स्कूल के पुराने अध्यापकों में से एक थे। कुछ वर्षों के बाद उनका वाइनीकोरो में तबादला हो गया था, या क्या वह ऑल सेन्टस था? अपने शिक्षक काल के अंतिम दिनों में, 1960 के दशक के मध्य में, वे ताबिया वापस आ गए थे। उन्हीं दिनों, मैं अपनी प्राइमरी स्कूल की पढ़ाई के अंतिम दौर में था। इतने वर्षों के बाद भी उनका नाम गांव में इज्ज़त से लिया जाता था।

मेरे प्राइमरी स्कूल के खत्म होने के एक साल पूर्व, मेरी मुलाकात श्री सीताराम जी से हुई। मेरे सभी शिक्षकों में वे सबसे स्मरणीय परंतु सनकी शिक्षक थे। वे, छोटे कद के, पांच फुट्टे, साफ़ रंग के, गंजे थे, जिनकी नाक चील की नाक की तरह पैनी थी। धूम्रपान लगातार करते रहते थे। हम सब उन्हें शैतानी में 'चंदुल्ला मुंडा' कहा करते थे क्योंकि सभी आदमियों के बालों से भरे सिरों के बीच एक गंजा आदमी अजीबोग़रीब प्रतीत होता था। स्कूल के पीछे, शिक्षकों के लिए बने हुए लकड़ी और टीन की छतों वाले क्वार्टरों में, श्री सीताराम नहीं रहते थे। वे पांच मील दूर वाईलेवू में रहते थे। सुबह साढ़े आठ बजे वे स्कूल पधारते थे और स्कूल की आख़िरी घंटी के तुरंत बाद वे अपनी गाड़ी, हरी मॉरिस माइनर, में बैठकर चले जाते थे।

जब श्री सीताराम ने हमें पढ़ाना शुरू किया तब उनकी उम्र साठ के आसपास रही होगी। हमें तो वे किसी अत्यंत प्राचीन काल एवं स्थल के भग्नावशेष लगते थे। अन्य शिक्षक उनसे कुछ ऐसे प्रेमपूर्वक पेश आते थे जैसे कि वे उनके प्रिय बड़े चाचा हों। ऐसे चाचा जो किसी की नौकरी के लिए ख़तरा नहीं थे, जो भोले पर बुद्धिमान थे, और जिन्हें स्थानीय इतिहास का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान था। जिन बच्चों का नाम याद रखने में उन्हें मुश्किल होती थी—सुखदेव, शम्भू, शंकर लाल, सभी नाम उनके लिए एक से ही थे— उनसे वे उनके पिताओं और बाबाओं के नाम पूछ कर उनकी खानदानी पहचान निश्चित करते थे। ऐसी जानकारियों के बारे में उनकी याद्दाश्त अद्भुत और चौंकाने वाली थी और कभी-कभी शर्मिंदा करने वाली भी।

अगर कोई सवाल ग़लत करता था या किसी शब्द को लिखना उसे नहीं आता था या बेशुआनलैण्ड के प्रधानमन्त्री का नाम उसे नहीं मालूम होता था, तो वे बस यह बोल देते थे, 'बेकार—अपने बाप और उसके भी बाप की तरह।' उन्हें हमारे सारे रहस्य, हमारी पुरानी पारिवारिक शत्रुताएं और गांव के सभी झगड़ों के बारे में पता था।

जब वे मूड में होते थे तब वे पढ़ाते हुए पाठ को भी भूल जाते थे, और दूर देखती हुई बूढ़ी नज़रों से, कमरे के अंत में, किसी ऊंची चीज पर निगाह टिका कर, बीते हुए दिनों के बारे में बतियाने लगते थे। ऐसा प्रतीत होता था जैसे कमरे में कोई नहीं है। अपने आप से बात करते, अतीत को सजीव करने का प्रयास कर रहे होते। एकाएक, वे कक्षा से बाहर चले जाते थे, बरामदे में खड़े होकर 'क्रेवन ए' सुलगा कर, और हमारी तरफ पीठ करके, वे लंबा कश लेते थे जो शायद पुनः उनके मन में शान्ति ले आता था। वापस आकर वे फिर पढ़ाने लगते। श्री सीताराम जी की मृत्यु के बारे में सुनकर, उनकी यह सारी बातें मुझे बिना प्रयास किए ही, याद आतीं चलीं गईं।

' बहुत ही नेक इन्सान थे', जैक—जग नारायण—ने लंबी चुप्पी के बाद कहा। जैक, जो अब एक किसान था, गांव का इतिहासकार था। उसका नाम लोगों ने, विश्वघटनाओं के प्रति, कभी न तृप्त होने वाली, उसकी, जिज्ञासा के कारण 'मैगलन' रखा था। वह ताबिया सनातन के शुरुआती छात्रों में से एक था, जब श्री सीताराम ने वहां पहले पहल पढ़ाना शुरू किया था। 'वैसे शिक्षक अब नहीं मिलते।' एक अन्य पुराने छात्र, मोती, जो अब सार्वजनिक निर्माण विभाग में ड्राइवर था, ने इस बात का समर्थन किया। 'क्या इन शिष्यों के घरों में अब किताबें दिखतीं हैं? क्या तुमने कभी किसी शिक्षक को ज्ञानार्जन और केवल स्वांतः सुखाय, पढ़ते देखा है?' मोती ने पूछा। आगामी चुप्पी ने मुझे परेशान कर दिया क्योंकि किताबें ही थीं, जिन्होंने मुझे गांव से बचाया था, और दूसरी दुनिया एवं अतीत से जोड़ा था। किताबों के बिना मैं कुछ नहीं होता।

'उनको दोष भी नहीं दे सकते, हैं ना भाई?' जैक ने कहा। कैसे दे सकते हैं, जब हालात ऐसे हैं? गरीबी, राजनैतिक परेशानियां, ज़मीन का सवाल। हर आदमी बाहर जाने के लिए प्रयत्नशील है। अगर मुझसे पूछा जाय तो यह दूसरा गिरमिट है।' गिरमिट या शर्तबंध मज़दूरी की यादें और उससे जुड़े संघर्ष, यातनाएं और अपमान, हाल ही में अत्यधिक चर्चा का विषय रहे थे। आज के सार्वजनिक पदों में सीमित अधिकार, पदोन्नति में रुकावटें, ज़मीनों के खत्म होते पट्टे, सपनों और वायदों के टूटने की याद दिलाते थे। 'बच्चा हमारी आशा है', वे श्यामपट पर लिखा करते थे,' मोती ने क्षुब्ध होकर कहा। 'कौन-सी आशा? कैसी आशा? आशा करना मजाक करना है।'

पतन की बातें मुझे दुःखी कर रहीं थीं। जहां देखो एक ही हाल था। परम योग्यता की खोज, शोध और सीखने की ज़बरदस्त कामना, रातोंरात मेहनत करना, यह सब कहीं ग़ायब हो गया था। राष्ट्र की आत्मा को 'औसत योग्यता' का कीड़ा चुपचाप खाये जा रहा था। मैंने बातचीत को फिर से श्री सीताराम की तरफ मोड़ने की कोशिश की। 'रामसे जैसा नाम कैसे पड़ा?' मैंने पूछा। एक हिंदू स्कूल में, ईसाई क्या कर रहा था? आज तो यह हो ही नहीं सकता, है ना?

'एक बाउल और मिला लो,' अपनी चमड़े जैसी, कावा के कारण फटी हुई खाल को खुजाते हुए मोती बोला और साथ ही सुलूका (छपे कागज़ में लिपटी हुई, घर में उगी, कड़ी तंबाकू), पर एक लंबा कश खींचकर उसने कहा, 'पैसे मास्टर देगा।' मैंने हां में सिर हिलाया। 'उनके पिता राम सहाय थे, इसलिए उन्होंने अपना नाम रामसे रख लिया, ताकि वह अंग्रेजी नाम जैसा लगे। यह सब इसलिए ताकि उन्हें ऑल सेन्ट्स में प्रवेश मिल सके,' जैक ने मुझे बताया। मुझे आश्चर्य हुआ। यह मेरे लिए नई बात थी। 'एक यूरोपियन स्कूल में पढ़ने के लिए क्या अपना नाम बदलना पड़ता था?'

'पुराने दिनों की बात अलग थी,' जैक ने जवाब दिया। 'अंग्रेजों का राज्य था। तब कुछ ही स्कूल थे। एक वाईनीकोरो में था दूसरा बुलीलेका में और थोड़े यहां-वहां। बच्चे कुछ साल इन स्कूलों में जाते थे ताकि लिखना-पढ़ना सीख सकें। बस यही था। आगे पढ़ना है तो ईसाई स्कूलों में जाना ही पड़ता था।' कुछ था जो मेरी समझ से परे था। स्कूलों से लोगों को अपेक्षाएं क्या थीं?'

'हमारे माता-पिता अनपढ़ थे पर बेवकूफ नहीं थे, मास्टर,' जैक ने कहा। 'उन्हें पता था कि शिक्षा के बिना हमारा कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। कुलियों के झुण्ड के अलावा हम कुछ नहीं रहेंगे, बिल्कुल बेकार। शिक्षित होकर हम अच्छी शादी कर सकते थे। अख़बार पढ़ सकते थे। हम तालाब के मेंढक की तरह थे : दुनिया के बारे में, बिना पढ़े हम कैसे जान सकते थे। शिक्षा पाकर हम अपने माता-पिता के पत्र भी पढ़-लिख सकते थे।'

जैक बोलने के लिए पूरी तरह तैयार हो रहा था, तभी मोती बीच में बोला, 'भैया, महाजनों को मत भूलो।'

यह बात मुझे समझ नहीं आई। वह आगे बोला, 'मास्टर, उन दिनों में हमारे लोगों को पढ़ना-लिखना नहीं आता था। जब लोग दुकान में जाते थे तब वे अपने द्वारा खरीदे हुए सामान के दाम की सूची, महाजन को ही, एक किताब में, लिखने देते थे। हमारे पास पैसा नहीं होता था। उधारी पर लोग सामान लेते थे। महीने के अंत में वे हिसाब करते थे या फिर गन्ना कटने के बाद। पैसा देने के समय उन्हें एक लंबी सूची थमा दी जाती थी—उन चीजों की भी जो उन्होंने कभी नहीं खरीदीं थीं। तुम शिकायत करो, पर तुम्हारी बात लिखित रिकार्ड के विरुद्ध होती

थी। पुलिस कुछ नहीं कर पाती थी। इसी तरह चलता था। तुम क्या सोचते हो कि खेतों पर कमर तोड़ मेहनत करने के बावजूद, हमारे लोग, इतने ग़रीब क्यों रहे?'

अपने दुर्भाग्य के लिए औरों पर दोष मढ़ना हमेशा सन्तोष देता है, मैंने सोचा, और दबे हुए लोगों को, खुद को शिकार के रूप में दर्शाना, बड़ी अच्छी तरह आता है। ग़रीबी के और भी कारण थे—लोगों के पास जो छोटे-छोटे खेत थे, सी.एस.आर. कंपनी के, किसान क्या उगाये, क्या न उगाये, का बंधन, नकद पाने वाली नौकरियों का अभाव, हमारी खुद की कामचोरी की आदत। शायद, पहली बार मुझे एहसास हुआ कि शिक्षा पाने हेतु हमारी खोज, अपने ही लोगों द्वारा लूटे जाने के कड़ुवे सत्य से ही प्रेरित थी, न कि सांस्कृतिक और बुद्धिमानी की खोज के अनुपम स्वप्न के कारण।

इस प्रकार की पृष्ठभूमि के साथ, अन्जान जगह में बड़े होकर, शर्तबंध मज़दूरी की छाया में रहकर, परेशानियों से घिरकर, आख़िर किस प्रकार, श्री सीताराम, 1930 के दशक के अंतिम वर्षों में, एक शिक्षक बन सके। अगर आप विचार करें, तो यह एक अद्भुत उपलब्धि थी। उस समय यही शायद उच्चतम नौकरी थी जिसको आप पाने की सोच सकते थे। शिक्षक, समाज के आधार स्तम्भ माने जाते थे। अपने ज्ञान के लिए, वे, बहुत इज्ज़त पाते थे। वे, उच्च नैतिकता के उदाहरण माने जाते थे। माता-पिता उनको छात्रों की देख-रेख की ज़िम्मेदारी खुशी से सौंप देते थे।

अपने पुत्र की सफलता का कारण, श्री सहाय थे। तुआतुआ सेक्टर में वे सरदार रहे थे। मोती ने संकेत में बताया कि उनके अतीत के कुछ पन्ने हैं। पर उनकी सच्चाई जानना और किसी पर विश्वास करना कठिन है। कुछ का कहना था कि वे 'दूसरी तरफ' से मिले हुए थे—यानी सी.एस.आर. कंपनी से। पर दोनों तरफ से फ़ायदा उठाने वाले, वही अकेले नहीं थे। सरदार, अपने नीचे वालों से अधिक से अधिक काम लेने के लिए ज़िम्मेदार होते थे। 'कुलियों के नेता' कहलाते थे। शर्तबंध मज़दूरी बंद होने के साथ ही, श्री सहाय, ताविया आ गए थे। वे, गांव के शुरुआती निवासियों में से एक थे। वे, ज़िला अधिकारी को जानते थे (जो सी.एस.आर. के पूर्व कर्मचारी थे) और इसीलिए पूर्ण स्वामित्व वाली भूमि का एक बहुत बड़ा हिस्सा, जो नदी के पार, शिव चरन स्टोर के बगल में था, खरीदने में सफल रहे थे।

कुछ समय में ही श्री सहाय ने गन्ने का एक बड़ा खेत खरीद लिया, जिसमें कई लोगों को उन्होंने काम पर रखा। सब लोग उन्हें 'बाबूजी' कह कर बुलाते थे। बाबूजी पढ़-लिख सकते थे। वे गिरमिटियाओं से थोड़ा कुछ लेकर उनकी चिट्ठियां लिख-पढ़ देते थे। लोगों के काम बना देते थे। सरकारी दफ़्तरों में उनकी पहुंच थी। वे गांव के अगुआ थे। खेत और लोगों के उपहारों से उन्होंने दुकान खरीदी थी।

जैक ने पूछा, 'मास्टर, क्या तुम जानते हो कि यह लोग किस तरह व्यापार करते थे?' मैं नहीं जानता था। 'क्या तुमने बंदर और बिल्लियों की कहानी सुनी

है?' नहीं, मैंने नहीं सुनी थी। मैं सोच रहा था कि इस जगह के बारे में, मैंने, कुछ परिकल्पना की थी पर सही मायने में, उसके अतीत के बारे में, अभी भी, मैं बहुत कम जानता था।

'दो बिल्लियां थीं' जैक आगे बोला। 'एक दिन उन्हें एक रोटी का टुकड़ा मिल गया। उन्होंने उसे बराबर से बांटने का निश्चय किया, पर, उन्हें एक-दूसरे की ईमानदारी पर विश्वास नहीं था। इसलिए, वे एक बंदर के पास गईं और उसे रोटी को बराबरी से दो हिस्सों में बांटने को कहा। बंदर को एक चाल सूझी। उसने जानबूझ कर रोटी को छोटे-बड़े हिस्सों में तोड़ा और फिर यह कहते-कहते कि अबकी बार यह टुकड़ा बड़ा है, अबकी बार वह, पूरी रोटी चट कर गया। उसी तरह हमारे महाजन और बाबू जिंदगी में आगे निकल गए,' जैक ने कहा।

'दोज़न एंड वन' की बात मत भूलना, मोती ने उसे याद दिलाया। 'हां, यहां, श्री सहाय, लांगीरी में ननका बॉस और सोईसोई में सुखलाल, 'दोज़न एंड वन' थे।' जैक आगे बोला, 'हां मास्टर, उन दिनों में हमारे लोगों को बिना पुलिस परमिट के दारू पीना मना था। परमिट मिलने के लिए, आपका अच्छा चरित्र, लोगों से जान-पहचान और पैसा भी होना, ज़रूरी था। परमिट के द्वारा, स्पिरिट की एक बोतल और बियर की एक दर्जन बोतलें, एक महीने में, खरीदी जा सकती थीं। श्री सहाय खुद नहीं पीते थे पर गांव के लोगों को वे दारू बेचते थे। दुगुने दामों में। इसी तरह उन्होंने अपना पैसा बनाया। इसी तरह सभी ने अपना पैसा बनाया।' हो सकता है, यह एक अतिश्योक्ति हो, पर, यह भी सच है कि हमारे बीच दुष्ट और लूटने वालों की कमी नहीं थी। जितना हम समझते थे, उससे कहीं अधिक, ऐसे लोग थे। 'हर सफल कहानी के पीछे एक रहस्यात्मक कहानी होती है,' मोती ने हंसते हुए अपनी बात समाप्त की।

'इस स्कूल को शुरू करने के पक्ष में बाबूजी नहीं थे,' जैक ने कहा। 'क्यों?' मैंने पूछा, ऐसा करना तो बिल्कुल सही था। 'शिक्षक कहां से आएंगे? किताबों का खर्चा कौन उठायेगा? स्कूल की इमारत बनाने के लिए भूमि कहां से मिलेगी? जब भी लोग उनसे शिक्षा की बात करते थे तभी बाबूजी लोगों से यही प्रश्न पूछते थे।' जैक आगे बताता रहा। 'अपने परिवारों को पहना-खिला तो पाते नहीं हो। स्कूल की फीस और बिल्डिंग फंड कैसे दोगे? हम सब अपने बच्चों के लिए शिक्षा चाहते हैं पर अभी वह समय नहीं आया है। भुट्टा, चावल, गन्ना और सब्ज़ियां ज़्यादा उगाओ। कुछ गाय, बकरियां और मुर्गियां पालो। ग़रीबी हमारा सबसे बड़ा दुश्मन है। यही हमारी मुख्य समस्या है। स्कूल बाद में भी बन सकते हैं।'

लोग इस बात से सहमत नहीं हुए। श्री राम सहाय जैसे लोगों का प्रभाव कम करने के लिए ही और कभी न खत्म होने वाली ग़रीबी और निराशा के दौर को तोड़ने के लिए ही, उन्हें स्कूलों की ज़रूरत थी और इसलिए बच्चों को वे शिक्षित

करना चाह रहे थे। स्थानीय कुटियों तथा समुदायात्मक और विश्राम गृहों से एक छोटी शुरुआत की गई और एक छोटा प्राइमरी स्कूल, 1945 में, शुरू हुआ। इसी दौर में, ताबिया सनातन का जन्म हुआ।

अपने पुत्र के बारे में श्री सहाय की अलग ही सोच थी। नासिया शहर में, लड़कों के ऑल सेन्ट्स प्राइमरी बोर्डिंग स्कूल में उसका दाख़िला कराया। श्री सीताराम को अपने पिता के शब्द साफ़ तौर पर याद थे। 'बेटा, अंग्रेज़ी अच्छी तरह सीखो।' उन्होंने कहा था। 'साहबों के तौर-तरीके सीखो। देखो किस तरह गोरे लोग दुनिया पर शासन कर रहे हैं। उनकी गूढ़ बातें सीखो। आंखें खोलो, लड़के। देखो। खेतों का काम कुलियों के लिए है। अपने को आदमी बनाओ। हमारा नाम ऊंचा करो, राम सहाय।' यह याद रखना।' अपने पिता की बातों को मुझे बताने के बाद, श्री सीताराम हंसे थे। श्री सीताराम बोले कि जिस तरह से उनके बूढ़े पिता 'राम सहाय' कहते थे, तो लगता था मानो 'राम सो हाई' कह रहे हों।

पर ऑल सेन्ट्स में केवल ईसाई ही पढ़ सकते थे, या वे, जिन्हें ईसाई धर्म के सिखाये जाने से परहेज़ न था। पर यह बाबूजी के लिए कोई समस्या नहीं थी, यद्यपि वे पूजा, शादियों और अंतिम क्रियाकर्मों में, बराबर व्याख्यान दिया करते थे। उन्हें धार्मिक ग्रन्थों के उपयुक्त श्लोक भी याद थे। लोगों से बराबर कहते भी रहते थे कि उन्हें हर संभव उपाय द्वारा अपनी सभ्यता और अपनी पहचान को हमेशा बनाए रखना चाहिए। वे कहते, 'अपने धर्म के बिना, तुम लुढ़कते हुए पत्थर के समान हो, बिना पेंदी के लोटे की तरह हो।' परंतु जहां अपने परिवार का मामला फंसता था, उनके विचार बिल्कुल बदल जाते थे। 'लड़के! धर्म मेज़ पर खाना नहीं रख सकता,' वे अपने छोटे लड़के से कहा करते, 'धर्म तुम्हारे लिए खाना नहीं परोस सकता है।'

और इस तरह रामसे सीताराम ने अपने पिता के कहने पर नये धर्म को अपना लिया, हालांकि, किसी खास जोश के साथ नहीं। उन्होंने ऑल सेन्ट्स से आठवीं कक्षा पास की, प्रवेश परीक्षा पास करके उन्होंने नासीनू प्रशिक्षण कॉलेज में दाखिला लिया ताकि प्राइमरी स्कूल के शिक्षक बन सकें। उनकी पहली नौकरी, वाइनीकोरो गवर्नमेन्ट प्राइमरी में लगी। कुछ सालों के बाद वे ताबिया आ गए।

जैक को श्री सीताराम के बारे में सब याद था। 'वे सब कुछ पढ़ाते थे : हिंदी, अंग्रेज़ी, गणित, सारे विषय। देखा जाय तो वे स्कूल के एक मात्र प्रशिक्षित शिक्षक थे।' 'भारतीय इतिहास में उन्हें बहुत दिलचस्पी थी।' मोती बोला। 'उन दो या तीन सालों में हमें, अकबर और बीरबल, झांसी की रानी, शिवाजी, तिलक, नेहरू, गांधी जी, सुभाष चंद्र बोस, 1857 की गदर, सबकी कहानियां, मुंहजुबानी याद हो गई थीं।

सूची प्रभावशाली और क्रांतिकारी थी। 'पर क्या वे पुस्तकें प्रतिबंधित नहीं

थीं?' सरकार द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध घृणा पैदा करने वाली सभी सूचनाओं पर सख़्त नियंत्रण की बात याद करके, मैंने पूछा। भारतीयों की वफ़ादारी पहले ही शक के दायरे में थी, तथा बोस और गांधी जी की शिक्षाएं, अवश्य ही विद्रोह समझी गईं होंगीं।

'श्री सीताराम को, ये सब कहानियां, अमृत बाज़ार पत्रिका, आज़ाद, और गदर जैसी पत्रिकाओं, से मिलती थीं।' जैक ने जवाब दिया। नामों के बारे में उसकी याद्दाश्त देखकर मैं चकित रह गया। उसका नाम 'मैगलन' सही ही रखा गया था। डाकखाने में पार्सल के खोले जाने पर, जिसके नाम का पार्सल होता, उस पर कड़ी नज़र रखी जाती। उस पर मुकदमा भी चलाया जा सकता था या उस पर जुर्माना भी ठोंका जा सकता था। श्री सीताराम जैसे एक शिक्षक को, ऐसे कागज़ात आख़िरकार कैसे प्राप्त हो सकते थे, ख़ासतौर से युद्ध के दौरान, यह सोचकर मैं भी हैरान था।

'नासिया शहर के चंदू भाई पटेल से' जैक बोला। 'वह कागज़ात किसी तरह छुपछुपाते मंगा लेते थे—बर्तनों, मसालों और कपड़ों के क्रेटों में छुपाकर। कस्टम अधिकारियों को थोड़ी बख़्शीश देने से भी काम आसान हो जाता था। कुछ भी कहो, पर इन गुजरातियों ने, ऐसे समय में जब हम टूटे और बिखरे हुए थे, तिरस्कृत और अपमानित थे, बोझा ढोने के जानवरों के अलावा कुछ नहीं थे, तब उन्होंने हमारी सभ्यता को बनाए रखने में हमारी बड़ी मदद की। उनके द्वारा मंगाई गई हिंदी पिक्चरें, अख़बार, संगीत और धार्मिक ग्रंथों के बिना तो हमारा अस्तित्व ही मिट जाता। हम कहीं के न रहते—धोबी के कुत्ते की तरह—न घर के न घाट के।

मोती को श्री सीताराम के पढ़ाने का एक और पहलू याद हो आया। 'वे क्या कहते थे?' 'हर समय काम और कोई खेल न खेला, जॉन को एक बुरा लड़का बना देता है?' 'एक सुस्त लड़का,' मैंने कहा। 'हां वही कुछ' वह आगे बोला। 'उन्होंने हमें हॉकी, कबड्डी, राउंडर्स और सॉकर सिखाया। एक-दो बार हमने अन्तर्विद्यालय प्रतियोगिताओं में भी भाग लिया। याद है जैक?' 'मैं कैसे भूल सकता हूं?' जैक ने जवाब दिया। 'एक बार श्री सीताराम हमारी सॉकर टीम को वूनीमोली ले गए थे। वह हमारी पहली सैर थी। वे लोग बहुत उद्दंड थे।' 'कुछ भी तो नहीं बदला है,' मोती हंसा।

'एक बड़े लड़के, फुलबैक, ने मेरी हड्डी पर इतनी ज़ोर से मारा कि मुझे लगा जैसे मेरी दायीं टांग टूट ही गई हो। एक बड़ी फुटबाल की तरह, मेरी टांग सूज गई थी। बाप ने देखा तो चपकी से धुन डाला और सूजी टांग के साथ कूल्हे भी घायल हो गए।' वह हंसा। जैक आगे बोला, 'पर मेरे पिताजी वहीं नहीं रुके। अपना छोटा कुर्ता पहन कर वे सीधे स्कूल पहुंच गए।' 'मास्टरजी, मैं अपने लड़के को स्कूल पढ़ने के लिए भेजता हूं। टांग तुड़वाने के लिए नहीं। उसकी टांग जुड़वाने के लिए मेरे पास पैसे नहीं हैं। उसकी देखभाल कौन करेगा, तुम? इससे पहले कि कोई गम्भीर

रूप से घायल हो जाय, यह बकवास बंद करो। और इस तरह मेरे फुटबाल खेलने के दिनों का अन्त हो गया।'

श्री सीताराम इस बात पर भी ज़ोर देते थे, कि, बड़ी कक्षाओं में पढ़ने वाले छात्र बाग़वानी की भी कुछ मूल बातें सीखें। मूली, गाजर, टमाटर, बैंगन, पत्तागोभी और सलाद के पत्ते उगाना, बच्चों को आना चाहिए—ऐसा वे मानते थे। इसीलिए उन्होंने एक युवा किसान क्लब भी शुरू किया। लंबी संकरी खाड़ी के पास, स्कूल की ज़मीन का एक खास हिस्सा, बाग़वानी के लिए सुरक्षित कर दिया गया। प्रत्येक छात्र या छात्रों के समूह को एक ज़मीन का टुकड़ा दिया जाता जिसकी वे देखभाल करते, उसमें सब्ज़ियां उगाते, रोज़ सुबह-शाम पानी देते और चिड़ियों को भगाने के लिए पुतले भी खड़े करते थे।

'शुरू में यह बहुत नहीं चला,' मोती को याद आया। कुछ माता-पिता तो समय बरबादी की दुहाई देकर गुस्सा भी हो गए। उसे याद आया कि एक बार श्री रामधन स्कूल आए और श्री सीताराम जी से बोले, 'मैं, अपने लड़के को, फलियां उगाना सीखने के लिए, स्कूल नहीं भेजता हूं। वह तो, तुम सबसे ज़्यादा अच्छी तरह, मैं, उसे सिखा सकता हूं। तुम्हारे पैदा होने के पहले से हम किसान हैं।' श्री सीताराम कुछ अधिक नहीं बोले। वे धीमे से मुस्कुराये और श्री रामधन के कंधों पर बांह डालकर बोले, 'आओ काका, चाय पीते हैं।' मुझे पता नहीं उन्होंने क्या कहा पर श्री रामधन शांत होकर वहां से चुपचाप चले गए।

कुछ लोगों ने सोचा कि शायद उगाई हुई सब्ज़ियां, छात्र घर ले जा सकेंगे। जब ऐसा नहीं हुआ, तब अफ़वाहें फैलने लगीं कि अध्यापक खुद अपने लिए सब्ज़ियां रख लेते हैं। यह सच नहीं था। श्री सीताराम ने और ही कुछ सोच रखा था। सब्ज़ियां बेचने से प्राप्त धन का उपयोग, वे, बहुत गरीब बच्चों के लिए किताबें, पेन्सिलें, कॉपियां यहां तक कि यूनीफॉर्म भी खरिदवा देते थे। उनके शुरू के छात्र उनको इतने प्यार से क्यों याद करते थे, मुझे अब अच्छी तरह समझ में आने लगा था।

'तो क्या किसी ने एक ईसाई द्वारा हिंदू बच्चों के पढ़ाये जाने पर विरोध नहीं किया' मैंने पुरानी बात को फिर से उठाया। 'वे वास्तव में ईसाई नहीं थे,' जैक ने कहा, 'हो सकता है वे रहे हों', मोती बीच में बोला, 'पर उससे कोई खास फर्क नहीं पड़ता था। वे एक अच्छे इन्सान थे, एक अच्छे अध्यापक थे। जैसा कि बुज़ुर्गों ने कहा है अगर बिल्ली चूहे पकड़ती है तो वह काली है या सफ़ेद कोई फर्क नहीं पड़ता।' कितना बदलाव आ गया था। आजकल तो किसी हिंदू स्कूल में मुस्लिम प्रधानाचार्य या मुस्लिम स्कूल में हिंदू प्रधानाचार्य का होना कितना मुश्किल था।

'यह धार्मिक अनबन की झंझट, हाल ही की बात है,' जैक ने कहा। 'उन दिनों में हम सब एक थे, एक बड़े परिवार की तरह। साथ खाते थे, साथ खेलते थे, और साथ-साथ स्कूल जाते थे। हम सब एक थे।' उसे, शुरूआत के तावियां

सनातन के कई अध्यापकों के नाम याद हो आए : श्री मुंशी, श्री आशिक हुसैन, श्री मीठा सिंह, श्री साइमन नांगिया। 'आजकल की धार्मिक किचकिच को देखो। तुम इसे प्रगति कहते हो, मास्टर?' उसकी आवाज़ में बदले हुए हालात पर दुःख और पछतावा छुपा हुआ था। भाई, यह प्रगति का फल है,' मैंने धीरे से कहा।

अपने बाकी बचे लबासा के दिनों में, मैं, श्री सीताराम जी की यादों से जूझता रहा। मैं, उनको उनकी ढलती उम्र में जान पाया था। वे, और लोगों की प्रशंसा या स्कूल के बाह्य परीक्षाओं के नतीजों से बेखबर रहते थे—वह सब जिनसे दुनिया में सफलता आंकी जाती है। उन दिनों की मेरी यादें धूमिल-सी हैं। 'इतिहास महत्व रखता है, लड़के,' उन्होंने एक दिन कक्षा के बाद मुझसे कहा था। 'याद्दाश्त कितनी बहुमूल्य वस्तु है।' हम लोगों को अपने बारे में जानने की कोई उत्सुकता न होना, अपने अतीत के बारे में, अपनी इर्दगिर्द की दुनिया के बारे में उदासीन रहना, किसी सृजनात्मक या कल्पनात्मक कार्य में हमारी रुचि न होना, हमेशा छोटी-छोटी बातों पर लड़ना, झगड़ना, सीमित स्वार्थों का होना, यह सब उन्हें बहुत दुःख देता था। एक बार उन्होंने कक्षा में कहा था, 'हर घर में एक शब्दकोष, बाइबिल, कुरान और रामायण होनी चाहिए'। बुढ़ापे में भी नई खोज करना या नई बातों को सीखने का उनका उत्साह, कम न हुआ था। न ही उनकी शैतानी भरी हंसी-मज़ाक करने की आदत।

एक बार, श्री सीताराम ने कक्षा से पूछा, 'सबसे बड़ा साम्राज्य, इतिहास में कौन-सा है?' 'ब्रिटिश साम्राज्य' मैंने उत्तर दिया। 'सही'। ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त क्यों नहीं होता था? क्लैरियन एटलस के सभी लाल बिंदुओं को याद करते हुए मैंने ब्रिटिश साम्राज्य की विश्वव्यापकता के बारे में बताया। 'नहीं, लड़के। ब्रिटिश साम्राज्य में सूरज कभी नहीं डूबता था क्योंकि भगवान अंधेरे में अंग्रेज पर विश्वास नहीं करते हैं,' हंसी के फुव्वारे के साथ अपनी थुलथुल तोंद को ज़ोर से हिलाकर वे बोले। हम सब हैरान थे। मुझे याद है कि शिव जो मेरे पास बैठा था, फुसफुसाया, 'क्या यह सच है? भगवान अंग्रेज पर विश्वास क्यों नहीं करता? मुझे कुछ पता नहीं था। पर लियाक़त ने कहा कि यह शायद इसलिए है क्योंकि अंग्रेज 'उस समय' पानी की जगह कागज़ का इस्तेमाल करते हैं।'

एक अन्य मौके पर वे विश्व इतिहास की बड़ी इमारतों के बारे में बता रहे थे : एम्पायर स्टेट बिल्डिंग, टॉवर ऑफ लंदन, बिग बेन, पीसा की झुकी हुई टॉवर, गोल्डेन गेट ब्रिज, मिस्र के पिरामिड। फिर उन्होंने हमारी किताब में छपे काले-सफेद बिंदुओं से बने ताज़महल की फोटो दिखायी। यह भारत का सबसे प्रसिद्ध 'इरेक्शन' है! उन्होंने कहा।

श्री सीताराम हमारी संगीत की कक्षाएं भी लेते थे। वे हमें कुछ गीत सिखाते, जिन्हें हमें याद करना होता था और हर महीने कक्षा में उन्हें गाकर सुनाना होता

था। सबकी बारी आती थी। सुंदर शब्दों को बिना सुर और ताल के गाना बहुत ही बुरा लगता था। अधिकतर तो किसी बेचारे को पूरे गाने की कवायद करते देख, हम अपनी हंसी नहीं रोक पाते थे। आखिर में एक ही गीत बचता था जो सब गा लेते थे, 'राजा केंकड़ा रे, तू तो पानी का राजा।' जो सही मायने में सुर में गाते थे उनके लिए तो बहुत गाने थे– बाबा ब्लैक शीप, हम्पटी डम्पटी, और जैक एण्ड जिल।' श्री सीताराम की खुद की आवाज़ काफी भारी और सुंदर थी। हर संगीत की कक्षा में, हम सब, उनसे गाने के लिए प्रार्थना करते थे। सी.एच. आत्मा, मन्ना डे, खासतौर से मुहम्मद रफी के गाने वे हमें सुनाया करते थे। हम सब का पसंदीदा गाना था–चल चल रे मुसाफिर चल, तू उस दुनिया में चल —।

बड़े से बड़े अपराध के प्रति भी श्री सीताराम उदारता दिखाते थे। हम सब जानते थे कि सदानंद और वीरमती दोनों एक-दूसरे को पसंद करते थे। कक्षा में वे एक-दूसरे को कनखियों से देखते रहते थे और किताबों में छोटे-छोटे हाथ से लिखे पत्र भेजा करते थे : 'रोज़ेज आर रेड, वाईलट्स आर ब्लू—,' उस तरह की चीज़। एक दिन किसी ने श्री सीताराम से इसके बारे में शिकायत कर दी। हम सब दिल थामे सुन रहे थे। हमें पता था कि यदि यह मामला मुख्य अध्यापक श्री सुब्रमनी गउंडेन के पास गया, तो सदानंद की तो भरी एसेंबली में बुरी तरह से केनिंग की जायेगी और वीरमती को स्कूल छुड़वा कर ब्याह दिया जाएगा। पर श्री सीताराम ने खुद ही मामला निपटा दिया। एक दिन स्कूल खत्म होने के बाद, वे दोनों को कोने में ले गए और एक पिता की तरह, उन्हें, उनके भविष्य और उनकी बेवकूफी के बारे में समझाया। जब सदानंद और वीरमती ने स्कूल खत्म करने के, कुछ साल बाद शादी की, तब श्री सीताराम वहां मुख्य अतिथि के रूप में बुलाये गए थे।

श्री सीताराम धनाढ्य परिवार से थे–मॉरिस माइनर उनकी समृद्धि की निशानी थी–पैसा उनके लिए कोई मायने नहीं रखता था। उल्टे वे औरों की परेशानियां खूब समझते थे–खासतौर पर मेधावी छात्रों की, जो गरीब परिवार से आते थे। वे, उनकी भरसक मदद करते थे।

एक दिन उन्होंने धन और हमारी उसके प्रति लिप्सा के बारे में बातचीत की–वह लिप्सा जो हमें जीवन के सही मायने में महत्वपूर्ण उद्देश्यों से दूर ले जा रही थी, जो हमें जीवन की सुंदरता से विमुख कर रही थी। उन्होंने उस समय जो कहा वह आज भी मुझे याद है। "पैसा सब कुछ नहीं है। पैसे से किताब खरीद सकते हो, ज्ञान नहीं। पैसे से तुम अच्छे से अच्छा खाना खरीद सकते हो, भूख नहीं। पैसा तुम्हें एक से एक बढ़िया सौंदर्य प्रसाधन की चीज़ें दिलवा सकता है, सुंदरता नहीं।" इस तरह वह लंबे समय तक हमारे सिरों के ऊपर देखते हुए बोलते रहे थे, वास्तव में वे खुद से ही बात कर रहे थे। बहुत दिनों बाद–विश्वविद्यालय की पढ़ाई खत्म करने के बाद ही, मैं श्री सीताराम जी के शब्दों की सत्यता की गहराई समझ सका था।

जब हमने सेकन्ड्री स्कूल में पढ़ने के लिए गांव छोड़ा, और कुछ साल बाद विश्वविद्यालय की पढ़ाई के लिए चले गए तब शिक्षकों से और उन साथियों से जो फ़ेल हो गए थे, हमारा संबंध टूट गया। पर कुछ साल पहले सूवा के बाज़ार में एकाएक मुझे श्री सीताराम दिखे। भीड़ में, दूर से, एक सिकुड़ा हुआ गंजा-सा आदमी, जो एक लकड़ी के क्रेट पर, सब्ज़ी की दुकान के बगल में बैठा था, जाना-पहचाना-सा लगा। पास आते ही मैं समझ गया कि वे श्री सीताराम ही थे।

मैंने धीरे से जब उनका नाम पुकारा, तब उन्होंने कश लेते हुए ऊपर देखा और मुझे तुरन्त पहचान लिया। वे उठ खड़े हुए। मेरी याद से कहीं अधिक वे ठिगने दिख रहे थे और उन्होंने मुझे गले लगाते हुए, मेरी पीठ, प्यार से थपथपायी। 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा काम किया है, लड़के,' उन्होंने एक बड़ी मुस्कुराहट के साथ, एक गौरवान्वित शिक्षक की तरह कहा।

'एक प्याला लो' श्री सीताराम ने मुझसे कहा। मैंने मुस्कुराकर जब मना किया तब बोले कि 'अब तो तुम ले सकते हो।' उन्होंने मेरे माता-पिता के बारे में पूछा और उनके देहान्त की ख़बर सुनकर वे सचमुच दुखी हो गए। 'वे अच्छे लोग थे,' दूर देखते हुए, अतीत की याद करते हुए, उन्होंने कहा। अन्य लड़कों से मेरा और उनका, दोनों का संबंध टूट चुका था।

श्री सीताराम ने मुझे बताया कि बहुत दिन पहले, वे सेवानिवृत्त होने के बाद, सूवा में अपने बच्चों के साथ रहने आए थे। 1970 के दशक में दोनों लड़के आस्ट्रेलिया चले गए और लड़की शादी करके कनाडा चली गई थी। उनकी पत्नी बहुत समय पहले ही गुज़र चुकी थीं। कई बार श्री सीताराम भी आस्ट्रेलिया हो आए थे, पर उन्हें वहां अच्छा नहीं लगा था। 'वह टूटा हुआ मधुमक्खियों का छत्ता जैसा था,' वे बोले, 'मेरे लिए वह जगह नहीं है।' 'मेरी उम्र में अच्छा है कि मैं यहां रहूं जहां मैं कुछ हूं, बजाय इसके कि वहां जहां मैं कुछ भी नहीं।' मैं उनके कहने का मतलब समझ गया था।

सम्पर्क बनाए रखने के वायदे के साथ ही, मैंने, श्री सीताराम से बाज़ार में ही, विदा ली। पर आप जानते हैं कि ज़िंदगी कैसी होती है—दूसरी ज़िम्मेदारियां आ जाती हैं और वायदे भुला दिए जाते हैं। वह मेरी आख़िरी मुलाक़ात थी। उनकी मृत्यु की ख़बर मुझे उस दुनिया और समय में ले गई जिसे मैं काफ़ी कुछ बिसरा चुका था, वे चीज़ें याद हो आयीं जो अतीत की धूल में कहीं छुप गई थीं, उन लोगों की याद हो आयी जिनकी सहानुभूति और दयालुता ने हमारे जीवन के रास्ते प्रशस्त किए थे। श्री सीताराम जैसे लोगों की।

लबासा से लौटने के बाद, मैं श्री सीताराम के, वुरेटा मार्ग पर स्थित, तहख़ाने में बने, फ़्लैट में पहुंचा। वहां मैं क्यों चला गया मुझे ख़ुद पता नहीं था। पर मुझे लगा, जैसे, ऐसा करना ठीक रहेगा, शायद मैं अंतिम विदाई लेने की पुरानी अभिलाषा

से प्रेरित था। मकान मालिक, राम गोपाल, ने मुझे अपनी बैठक में आमंत्रित किया। चाय के प्याले के बाद मैंने श्री सीताराम के अंतिम दिनों के बारे में उससे पूछा। क्या उन्होंने कुछ कहा था? क्या उन्हें अपनी मौत का कुछ अंदेशा हो गया था? क्या उन्होंने कुछ कागज़ात पीछे छोड़े हैं? 'अंतिम छः महीनों में मास्टरजी कुछ ज़्यादा ही अलग-थलग रहते थे, कुछ अधिक ही परेशान से मालूम पड़ते थे।' गोपाल ने बताया। बिना पूछे ही वह आगे बोला, 'अगर आप पूछें तो मैं यही कहूंगा कि फीजी में सरकार के बलात् तख़्तापलट ने ही उनकी जान ले ली। सर्वसाम्प्रदायिकता में विश्वास रखने वाले श्री सीताराम ने एलायन्स पार्टी की सदस्यता, नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद ही ले ली थी। 'हम सबको मिलकर रहना है,' उतने साल पहले उनका कहा हुआ यह कथन मुझे याद हो आया। 'मास्टरजी सारे अख़बार पढ़ा करते थे।' गोपाल बोला, 'रेडियो सुनते थे, उन्हें पता था क्या हो रहा है, क्या होने वाला है? दूसरा गिरमिट, एक बार उन्होंने मुझसे कहा था।'

गोपाल की बात सुनकर मुझे ताबिया सनातन का स्मरण हो आया और मुझे पंडित अमीचंद्र की पोथी की एक देशभक्ति की कविता याद आयी जो श्री सीताराम ने हमें कंठस्थ करायी थी :

फीजी देश हमारा है,
प्राणों से भी प्यारा है।

श्री सीताराम जीने की चाह क्यों खो चुके थे, क्यों सरकार के तख़्तापलट ने उनका दिल तोड़ दिया था—यह सब मुझे इन शब्दों को याद करके समझ में आ गया। जब मैं चलने लगा तब गोपाल को श्री सीताराम जी के पलंग की साइड टेबल पर रखा हुआ वह कागज़ का टुकड़ा याद आया जिस पर उन्होंने रफी के एक प्रसिद्ध गाने की कुछ पंक्तियां लिख रखीं थीं :

'चल उड़ जा रे पंछी,
कि अब ये देश हुआ बेगाना ....'

लबासा सेकन्डरी

सुभाष एक ऐसा लड़का था जो सबको प्रिय था। वह हमारे गांव का पहला लड़का था जिसने हाईस्कूल उत्तीर्ण किया था। वह छोटे कद का था, कलफ लगी सफेद यूनीफार्म और चमकते काले जूते पहन कर, वह सड़क के किनारे खड़े होकर, स्कूल बस की प्रतीक्षा किया करता था। उसके हाथ में एक किताब हुआ करती थी जिस पर उसका ध्यान पूरी तरह से केंद्रित रहता था। हम दबी आवाज़ में उसके बारे में बात किया करते थे और एक आदरपूर्ण दूरी उससे बनाए रहते थे जैसा कि देवताओं और साधारण मनुष्यों में होना चाहिए। उसने फीजी जूनियर परीक्षाओं में 'ए' ग्रेड प्राप्त किया था और सीनियर केंब्रिज की परीक्षाओं में भी वह उतना ही सफल हुआ था। 1968 में जब साउथ पैसिफिक विश्वविद्यालय खुला तब वह उसके छात्रों के पहले समूह में शामिल था। परिवर्तन के साथ, सुभाष केवल श्रद्धेय न रहकर हम सबके लिए एक यादगार भी बन गया। मेरे लिए तो कई वर्षों तक वह यही रहा। दूर से ही मैं उसे देखता और उसके प्रति श्रद्धा महसूस करता। अब वह फीजी शुगर कॉरपोरेशन में एक वरिष्ठ अधिकारी है। मैं सुभाष के नक्शेक़दम पर चला और ताबिया से विश्वविद्यालय शिक्षा समाप्त करने वाला दूसरा लड़का था।

1960 के दशक के उत्तरार्ध में अधिकांश माता-पिता के लिए अपने बच्चों को हाईस्कूल कराना मुश्किल नहीं था। यह आशा की जाती थी कि जो खौफ़नाक एन्ट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण कर लेता है वही अपनी उच्च शिक्षा जारी रखेगा। यह सपना सरकार द्वारा गरीब बच्चों को वज़ीफे देने के कारण साकार हो सका। मुख्यतः हमारे अभिभावकों को इस बात का कोई एहसास नहीं था कि हम कौन-सी जीविका अपनाएंगे या हमारा भविष्य आगे क्या होगा? पर एक बात पक्की थी और वह यह कि 10 एकड़ की पट्टे वाली ज़मीन पर हमारा कोई भविष्य नहीं था, और यही कारण था जिसने हमें दूसरे विकल्पों के बारे में सोचने के लिए मजबूर किया। कुछ सेकन्डरी शिक्षा प्राप्त करके हमें पगार पर आधारित नौकरी मिलने के अधिक मौके थे। शर्तबंध मज़दूरी के काले साये से उभरती पीढ़ी की यह आशा थी। निर्धनता और ग्रामीण जीवन के शर्मनाक और अधिकार रहित जीवन से हमारे माता-पिता के जीवन तो

बरबाद हो ही चुके थे। वे अपने बच्चों के लिए एक बेहतर भविष्य की कामना करते थे।

1966 का वर्ष ताबिया सनातन धर्म स्कूल के लिए एक बहुत सफल वर्ष रहा। उस साल एन्ट्रेंस परीक्षा देने वाला हर छात्र उत्तीर्ण हुआ और यह रिकॉर्ड कई वर्षों तक तोड़ा नहीं जा सका। पर यह सफलता कोई संयोग नहीं थी। हमारे हेडमास्टर, श्री सुब्रमनी गउंडेन, ने हमसे बहुत मेहनत कराई थी। सप्ताह के अन्त में वे अधिक से अधिक लिखित काम करने को देते, पुराने प्रश्नपत्रों का अध्ययन करवाते और एक टेस्ट, होने वाली परीक्षा के मॉडल पर लेते। परीक्षा के महीनों पहले से वे हमें स्कूल में ही रहने को कहते ताकि रात में हम सब मिलकर पढ़ सकें। वे जानते थे कि जैसे ही हम स्कूल से निकलेंगे, हम घर के कामों में फंस जाएंगे—खाने के लिए पानी लाना, लकड़ी काटना, मवेशियों को खाना देना, यंगोना को पीटना आदि। वे जानते थे कि इस सबके बाद हम इतना थक जाएंगे कि हम स्कूल के काम को ध्यान लगाकर नहीं कर पाएंगे। वहां रहकर हम पढ़ते भी थे और कुछ अन्य गतिविधियों में भी हिस्सा लेते थे जिनकी जानकारी गुप्त ही रखी जाये तो अच्छा है। कुछ बातें माता-पिता को अपने बच्चों को नहीं बतानी चाहिये। एक छोटे कमरे में युवा लड़के एक साथ खाएं और सोयें तो ज़रूर कुछ गड़बड़ तो होनी ही है।

हम सभी छः छात्र पास तो हो गए परंतु केवल तीन के ही ऐसे अंक थे जिन्हें लबासा सेकन्डरी में प्रवेश मिल सका। वह स्कूल हम सबका सपना था। लबासा सेकन्डरी एक सरकारी स्कूल था। वानुआलेवू में एकमात्र और पूरे उपनिवेश में अपनी पढ़ाई-लिखाई के लिए प्रसिद्ध था। उसके वाह्य परीक्षाओं के नतीज़े, सूवा ग्रामर, मेरिस्ट ब्रदर्स और नाताबुआ हाईस्कूल के परिणामों के टक्कर के होते थे। सरकारी स्कूल होने के नाते लबासा सेकन्डरी में अधिक योग्य शिक्षक और बेहतर सुविधाएं उपलब्ध थीं। उसकी प्रयोगशालाएं अच्छी तरह लैस थीं और एक उच्चकोटि का पुस्तकालय भी वहां था। ताबिया के हमारे अन्य तीन साथी, संगम हाई में गए जो सड़क के दूसरे किनारे पर था। यह स्कूल इंडिया सन्मार्ग इक्या संगम का निजी प्रयास था। यह दक्षिणी भारत की एक सांस्कृतिक संस्था थी जिसकी स्थापना 1926 में हुई थी। यह स्कूल, धन की कमी और अन्य परेशानियों से घिरा रहता था, जैसा कि अन्य प्राइवेट स्कूलों का हाल था, जो विभिन्न भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक संघों ने खोल रखे थे। पर इन स्कूलों ने बच्चों को एक ऐसा मौका दिया जो उनके बिना मिलना संभव नहीं था। समय के साथ, मेरा संबंध अपने संगम मित्रों से टूट गया। लबासा सेकन्डरी में मेरे अन्य दो ताबिया मित्रों ने स्कूल छोड़ दिया और मैं वहां उत्तीर्ण हुए छात्रों में अकेला ही रह गया।

घर से लबासा केवल नौ मील दूर था पर हम ग्रामीण बच्चों के लिए वह एक अन्जान जगह थी। वहां, दूकानें लुभाने वाली किन्तु बहुत मंहगी चीज़ों से भरी रहतीं

थीं, वहां ऊंची कान्क्रीट की इमारतें थीं, नल में हमेशा पानी रहता, वहां बिजली थी, चीनी रेस्तरां थे, और भिनभिनाती मक्खियों से भरी चाय की दुकानें थीं, सिनेमा हॉल थे, और नदी के किनारे बाज़ार था। ताबिया में कुछ नहीं घटता था, वहां कोई जोखिम भरे अनुभव नहीं होते थे, कुछ नहीं था, सिवाय घर और बाहर के रोज़मर्रा के काम। गांव में हमारे हर कार्य पर हमारे माता-पिता और बड़े भाइयों की बाज़ जैसी निगाहें रहतीं। पास-पड़ौस के अन्य लोगों से मुलाक़ात करना या मौज-मस्ती के लिए मित्रों से मिलना—जैसे फल से लदे आम के पेड़ों पर धावा बोलना, नदी में तैरना, मछली पकड़ना आदि—यह सब गतिविधियां पसंद नहीं की जातीं थीं। बल्कि उनको करने की मनाही थी। डर था कि अन्य लड़कों से हम गंदी आदतें न सीख लें। अच्छे लड़के घर पर ही रहते थे। भाग्यशाली हुए तो तीन-चार महीनों में एक बार पिता जी के साथ बाज़ार जाने का न्यौता मिल जाता था, बस इसके अलावा कुछ नहीं। उस सैर की याद कई दिनों तक रहती। अव्यवस्थित और कूड़े से भरा वह बाज़ार और जिन मित्रों और रिश्तेदारों से वहां मिलना होता, वह सब याद आते रहते और उसके बारे में बढ़ा-चढ़ा कर हम अपने छोटे भाई-बहनों को बताते ताकि उन्हें यह एहसास हो कि पहाड़ियों के पार कैसा अजीबो-गरीब संसार है। अगली यात्रा के लिए हम आपस में लड़ते-भिड़ते रहते।

लबासा सेकन्डरी शहर में ही था पर बस का टिकट एक तरफ से बीस सेन्ट् था जो हमारे लिए बहुत मंहगा था। घर में पैसों की हमेशा कमी रहती थी। इसलिए मेरे भाई 'बेन' ने नमारा में एक छोटा फ्लैट किराये पर ले लिया। नमारा शहर के किनारे एक सस्ता इलाका था और यहीं से मैंने अपनी हाईस्कूल परीक्षाएं दीं। इस बात से मेरी मां दुःखी हुईं क्योंकि उन्हें अपने छोटे बच्चे की चिन्ता थी कि घर के आराम से दूर वह कैसे अकेले सब कुछ संभालेगा पर उन्हें हमारे परिवार की निर्धनता की सच्चाई भी समझ में आती थी। नमारा पूरी तरह से बुरा नहीं था। घर से दूर होने के कारण मुझे स्कूल से लौटकर जो घर के काम करने पड़ते थे, उनसे छुट्टी मिल गई जिसके लिए मैं शुक्रगुज़ार था—जैसे घास काटना, मवेशियों को खाना देना, गन्ने की निराई करना आदि। अकेले रहकर मैंने जल्दी ही आत्मनिर्भरता और उपाय कुशलता का पाठ सीख लिया। अपना खाना मैं खुद बनाता, अपने कपड़े धोता और उनको इस्तरी भी करता। मुझे एकान्तवास के सुखों का अनुभव होने लगा। खाली समय में मैं पुस्तकें पढ़ता जिन्हें मैं स्थानीय म्यूनिसिपल पुस्तकालय से उधार पर लाता। कभी परिचारकों की आंख बचाकर या जब वे खुद पिक्चर देखने में व्यस्त रहते थे, तब चुपके से सिनेमा हॉलों में भी चला जाता। पर घर से दूर रहने के कुछ बुरे प्रभाव भी थे जो मुझे उस समय नहीं समझ में आए। मेरे और मेरे भाइयों के बीच दूरियां बढ़ गईं। हर बार जब मैं घर लौटता तो पहले से अधिक अजनबी बन कर आता। मेरे मस्तिष्क में गम्भीर बातें रहतीं, अपने में खोया रहता और उनकी

शैतानियों में भाग नहीं ले पाता, जैसा कि पहले किया करता था। समय और विभिन्न यात्राओं के कारण और उनसे जुड़े हुए अनेक सामाजिक और व्यक्तिगत अनुभवों के कारण, यह दूरी बढ़ती गई। अब जब मेरे भाई अपने बचपन की बातें करते हैं तब मुझे एहसास होता है कि मैंने जीवन में क्या खोया है? जब वे अपने बचपन की विभिन्न शैतानियां याद करते हैं—त्यौहारों, शादियों और स्कूल से छुट्टियों में वे क्या-क्या करते थे, रामलीला में जब वे हनुमान की सेना में बंदर बनते थे, सूखे धान के खेतों में जब वे सॉकर खेलते थे।

लबासा सेकन्डरी में मेरे पहले दिन की यादें तरोताज़ा हैं। रात जागते हुए बिताने के बाद मैंने सुबह जल्दी उठकर नहाया और आदतन पूजा की ताकि स्कूल में मुझे लगातार सफलता का आशीर्वाद प्रभु से मिल सके। मां ने कुछ विशेष सब्ज़ियां बनायीं और रोटी-सब्ज़ी का मेरा खाना बांध दिया। उस दिन पिताजी मुझे स्कूल लेकर गए। फ़ीस भरी जानी थी, किताबें खरीदीं जानीं थीं, कागज़ातों पर हस्ताक्षर होने थे। पिताजी अनपढ़ थे और उन्हें अंग्रेजी का एक शब्द नहीं आता था। इस वातावरण में उनके परेशान होने का मुझे एहसास हो रहा था। वे पसीने में नहाये हुए थे। अन्य बच्चों के पिताओं के साथ उन्होंने कोई सम्पर्क स्थापित नहीं किया। ये अन्य पिता लोग भी उतने ही परेशान और फ़िकरमंद थे जितने कि मेरे पिताजी। वे सब भी अपने-अपने बच्चों का प्रवेश कराने के लिए रुके हुए थे। मेरे पिताजी मेरे साथ, गर्मी में, तारकोल से बने नये प्रांगण में, पंक्ति में खड़े रहे और प्रधानाचार्य से मिलने की प्रतीक्षा करते रहे। हमने आपस में कोई बात नहीं करी। मेरी पीढ़ी के भारतीय पिता अपनी भावनाओं को दर्शाने में कंजूसी बरतते थे और बच्चों के प्रति अपना प्यार दिखाने में हिचकिचाते थे। दुनिया के सामने, मुझे भी, अपने आपको भावनात्मक रूप से निर्भर नहीं दर्शाना था। मुझे और लड़कों को यह दिखाना था कि मैं मेहरा नहीं हूं। सभी औपचारिकताएं पूरी कर लेने के बाद और कुछ कागज़ातों पर, जो स्कूल के क्लर्क, जमुना प्रसाद ने पिताजी को दिए थे, उन्होंने अपने अंगूठे का निशान लगाया और फिर वे चले गए। केवल एक बार ही उन्होंने पीछे मुड़कर देखा था। मुझे लगा मैं अकेला रह गया हूं। मुझे डर भी लगा था।

पहले दिन के अंत तक हमें अलग-अलग 'फार्म्स' में बांट दिया गया। यह अलगाव स्थायी था। जीविका के बारे में कोई सलाह मश्वरा देने की व्यवस्था नहीं थी, जैसा कि आज की आधुनिक प्रणाली में होता है और न ही किसी ने हमसे विषयों के पसंद-नापसंद के बारे में कुछ पूछा। शिक्षक सब कुछ जानते थे और वे ही हमारा भविष्य निश्चित करते थे। एन्ट्रेंस परीक्षा में पाये गए अंकों के आधार पर ही हमारा वर्गीकरण किया जाता। बहुत सरल तरीका था। जिनके अंक अच्छे थे उन्हें 'ए' धारा में रखा जाता बाकी को 'बी' में। 'ए' ग्रेड वाले बच्चे मुख्य थे और बाह्य परीक्षाओं में सफलता के लिए स्कूल की आशा थे। हम लोग अपने को

बहुत दुलारे, अधिकारयुक्त और उच्च कोटि का महसूस करते। हमें लगता कि हम ही स्कूल की पताका को संभालने वाले गौरवमय बच्चे हैं। हम और बच्चों को उस पीठिका से देखते जिस पर हमारे शिक्षकों ने हमें बैठा दिया था—साथ ही उनकी अपेक्षाओं का बोझ भी हमको उठाना था। 'ए' ग्रेड वाले बच्चों को विज्ञान पढ़ना होता था—रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, गणित, अंग्रेजी और छोटी कक्षाओं में भूगोल और इतिहास भी। 'बी' ग्रेड वालों को जीवविज्ञान और कुछ अन्य विज्ञान भी पढ़ने होते थे और साथ में लकड़ी और धातु का काम भी सीखना होता था। हम विद्वतापूर्ण जीविका अपनाने के लिए तैयार किए जा रहे थे और वे एक व्यावसायिक पेशे के लिए।

मैं शायद लबासा सेकन्डरी में अकेला ही छात्र था जिसने शैक्षिक विभाजन के दोनों तरफ से दुनिया को देखा। मैंने ग्रेड 'ए' से शुरूआत की और विज्ञान विषयों के साथ-साथ इतिहास और भूगोल भी पढ़ा। तीसरे साल में मुझे भूगोल और इतिहास के बीच, एक विषय को ही चुनना था। मुझे भूगोल बहुत पसंद था और उसमें मैं अच्छा भी था। दूरस्थ शहरों, नदियों के नाम, खेती करने के विभिन्न तरीके, व्यापार के तरीके, तब मुझे याद थे। पर इतिहास मेरे दिल में बसा था। जिस दिन मुझे निर्णय लेना था उस समय कृष्णा दत्त, हमारे इतिहास के नये अध्यापक, एक घिसा हुआ भूरा ब्रीफकेस लिए कक्षा में आए। 'जो इतिहास नहीं ले रहे हैं, वे, कृपया, कक्षा छोड़कर चले जाएं,' उन्होंने रुखाई से कहा। उनके तौर-तरीके में कुछ था—विश्वसनीय, उद्देश्यपूर्ण, अधिकारयुक्त—जिसने मुझे प्रभावित किया। कृष्णा उत्तेजना और एक अपूर्व अनुभव का वायदा देते हुए प्रतीत हुए। मैं रुक गया। भूगोल हार गया और मैं इतिहास से बंध गया।

हाईस्कूल के आखिरी वर्ष में मुझे एक और चुनाव करना पड़ा—इतिहास और भौतिकविज्ञान के बीच में। फिर से मुझे भौतिकविज्ञान पढ़ने का महत्व पता था पर मेरा दिल इतिहास से ही जुड़ा था। श्री सरवन सिंह, जो मेरे भौतिकविज्ञान के शिक्षक भी थे और स्कूल के प्रधानाचार्य भी, ने मुझे फिज़िक्स ही लेने को कहा। उनकी दलीलें प्रभावपूर्ण थीं—विज्ञान अध्ययन में भविष्य निहित था, मुझे इतिहास के मुकाबले विज्ञान में अधिक अंक प्राप्त हो सकते थे और इस प्रकार विश्वविद्यालय का वज़ीफा भी मैं प्राप्त कर सकता था। भौतिकविज्ञान लेकर भी मैं अलग से इतिहास भी पढ़ सकता था। मैं तेज़ बालक था। इतिहास लेकर मैं हद से हद हाईस्कूल का शिक्षक बन सकता था पर विज्ञान लेकर मेरे पास असीमित चुनाव क्षेत्र थे। पर मैं अड़ा रहा और अन्त में श्री सरवन मान गए। उन्होंने मुझे दो हफ़्तों के लिए इतिहास को 'देखने' के लिए कहा। अगर मैं अपना निश्चय बदलूं तब वे मुझे वापस लेने के लिए तैयार रहेंगे—ऐसा उन्होंने कहा। मैंने परिवर्तन कर लिया। पर इतिहास पढ़ने के लिए मुझे 'बी' धारा में आना पड़ा। तब मुझे खुद एहसास हुआ, उस सौतेले

व्यवहार का, जो 'बी' धारा के बच्चों के साथ किया जा रहा था। सर्वोत्तम से कम होने का एहसास जिसे इन बच्चों को सारे वर्षों झेलना पड़ा।

फीजी में रहने वाले प्रवासी भारतीयों की हम पहली पीढ़ी थे जिन्होंने सेकन्ड्री स्कूल में प्रवेश पाया था और उसे सफलतापूर्वक पूर्ण भी किया था। हम अगुआ थे, यद्यपि यह बात, उस समय हमें पता नहीं थी। 'ए' ग्रेड के होने के कारण, हमें यह सोचना अच्छा लगता था कि हम सर्वोत्तम और योग्यतम् का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। अपने प्राइमरी स्कूल का मैं सबसे तेज़ बच्चा था और अब वानुआलेवू के तेज़ बच्चों में से एक था। हम सब अपनी योग्यता के तथ्य से अवगत थे और अपनी शैक्षिक गुणवत्ता के आधार पर हम चुपचाप अपनी-अपनी जगह का आंकलन करते रहते थे। एक अनौपचारिक श्रंखला जल्दी ही स्थापित हो गई। हम सभी इस बात को स्वीकार करते थे कि विनोद चुन्नीलाल हमारी कक्षा और स्कूल का सबसे उत्तम छात्र है। विनोद नाताबुआ से आया था। वह हर चीज़ में अच्छा था, उसे कोई छू नहीं सकता था। वह आज एक इलैक्ट्रिकल इंजीनियर है। उसके बाद, विषयों के आधार पर उच्चता निर्णित की जाती थी। पर पांच-छः बच्चों का एक समूह था जो 'उत्कृष्ट' कहलाता था। मैं उस समूह का हिस्सा था। कोई आपसी ईर्ष्या या कोई घिनौना मुकाबला नहीं था—हम वहां थे क्योंकि हम स्कूल के श्रेष्ठतम छात्रों में से थे।

सर्वोच्चता पर ज़ोर दिए जाने से एक महत्वपूर्ण सबक, हमें, सीखने को मिला। हमारे समूह में कई बच्चे अमीर परिवारों से थे। वे, दुकानदारों, स्कूल शिक्षकों, वरिष्ठ सार्वजनिक अधिकारियों, बैंक अधिकारियों, समाज के प्रभावशाली व्यक्तियों, के बच्चे थे। कुछ के अभिभावकों को तो महारानी द्वारा किसी न किसी योगदान के लिए मान्यता भी मिली थी। वे, साफ-सुथरे, इस्तरी किए हुए कपड़ों में, स्कूल आते थे, अच्छे जूते पहनते थे और बढ़िया ब्रीफकेसों में अपनी किताबें और कागज़ रखते थे। मुझे दिल ही दिल में उनकी अमीरी और ऐशो आराम से ईर्ष्या होती थी। मेरी इतनी अधिक निर्धनता, कभी-कभी मुझे उसके कारणों के बारे में सोचने के लिए विवश कर देती थी। परंतु अंत में कक्षा में अपनी शैक्षिक योग्यता का प्रदर्शन ही मायने रखता था। वह कक्षा, सामाजिक और आर्थिक एकरूपता लाने और व्यक्तिगत प्रयास के प्रति मनोबल बढ़ाने का एक अत्यन्त सबल माध्यम सिद्ध हुई। हमने महसूस किया कि हम जो चाहें, पा सकते हैं, बशर्ते हम पूरी तरह से मेहनत करें। हम अपना भविष्य खुद बना सकते हैं। निर्धन पृष्ठभूमि से आने वाले, शहर की बाहरी सीमाओं पर किराये के कमरे में रहने वाले, अपने और अपने भविष्य को लेकर बहुत असुरक्षित महसूस करने वाले लड़के के लिए, यह एहसास अत्यधिक स्वतंत्रतादायक और शक्तिदायक था।

शायद हमारे शर्तबंध दादा-दादी ने फीजी आने पर कुछ ऐसा ही महसूस किया

होगा। भारत में उनका जीवन जाति और संप्रदाय की सीमाओं द्वारा परिभाषित था। समाज में उनका स्थान उनके पिछले कर्म या कुकर्मों द्वारा तय होता था। अपने जीवनकाल में उन्हें परिवर्तन की संभावना नज़र नहीं आती थी। परंतु काले पानी को पार करने से पुराने रीति-रिवाज़ टूट गए, और बागानों की दूभर जिंदगी ने सामाजिक ऊंच-नीच के आधार की रही-सही कसर निकाल दी। निम्नजाति के चर्मकार, मरे हुए जानवरों की खालें निकालने वाले चर्मव्यापारी और तथाकथित दो बार जन्मे ब्राह्मण—सब औपनिवेशिक कानून के समक्ष समान थे। इन हरे-भरे टापुओं में सामाजिक स्तर के बजाय व्यक्तिगत साहस, और व्यक्तिगत पहलशक्ति के आधार पर ही एक आदमी जीवित रह सकता था और प्रगति भी कर सकता था। प्राचीन देश से आए हुए गिरमिटियों को शायद पहली बार यह एहसास हुआ कि वे अपनी किस्मत खुद बना सकते हैं बजाय इसके कि उनकी किस्मत कोई अधिकारयुक्त पंडित लिखे—वे सब एक ही परमपिता के बच्चे हैं, मनुष्यत्व में समान हैं और सभी में उसका अंश है। हमारे लिए आज यह आम बात है पर उस समय यह एक क्रान्तिकारी एहसास रहा होगा,—दम घोंटने वाले रीति-रिवाज़ों से स्वतंत्रता का एहसास। व्यंगात्मक रूप से शर्तबंधी ने पुरानी पीढ़ी के लिए एक समानता पर आधारित संसार का सृजन किया। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था ने वही चीज़ हमारे लिए की।

हम में से अधिकांश लोग कृषक परिवारों से थे—शम्भू, नरेश, लियाक़त, शिव, दुरूस्वामी, महेंद्र, सतीश, पूरन, इमेन्यूएल, सोमया, वेकट, मलखान, विजय—सभी कृषक परिवार के थे और लड़कियां भी—सुशीला, मुमताज़, सुषमा, ज्ञान, माया, फिरोज़, दया, कामरूल। इतने सुंदर बुलाने वाले नाम। हम उनसे दूर ही रहते थे। खाने के विराम के समय हमारे बीच कोई मिलना-जुलना नहीं होता था। हमें कुछ एक की रुमानी रुचियों और धड़कते दिलों के बारे में पता था। आपस में एक-दूसरे को पत्र भेजने के बारे में, आदान-प्रदान की जाने वाली पुस्तकालय की पुस्तकों में छुपछुपाते फूलों के रखने के बारे में, नदी के पास, म्यूनिसिपल पुस्तकालय के पीछे, स्कूल के बाद, लुकते-छुपते उनके मिलने के बारे में, हमें सब पता था, परंतु हम यह बातें गोपनीय ही रखते थे। जब उन प्यार करने वालों के बारे में कोई पूछता तब हम कोई न कोई बहाना बना देते थे। स्कूल के बाद, जब हम किसी उत्सव, मुख्य रूप से शादी-ब्याह में मिलते, तब सब लड़के-लड़कियां एक-दूसरे के साथ अजनबियों जैसा व्यवहार करते। छोटी-मोटी बातचीत या नज़रों के मिलने का भी गलत मतलब निकाला जा सकता था जो लड़की के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता था—उसकी पढ़ाई-लिखाई को ख़तरा पैदा हो सकता था। मैं कभी-कभी उन लड़कियों, जो अब अधेड़ आयु की हो गई होंगी और विवाहित भी होंगी, के पते-ठिकाने के बारे में सोचता हूं।

लड़कों ने अच्छा प्रदर्शन किया और कुछ लड़कियों ने भी। 1970 में उत्तीर्ण होने वाली हमारी कक्षा, स्कूल के इतिहास की सबसे सफल कक्षा थी जिसने सबसे

अधिक तादाद में बच्चे, हाल में ही खुली यूनीवर्सिटी ऑफ साउथ पैसिफिक, में भेजे। कुछ बच्चे ऐसे भी थे जिन्होंने बीच में ही पढ़ाई छोड़कर किसी स्थानीय बैंक में, या साउथ पैसिफिक शुगर मिल में या कोई और सार्वजनिक नौकरी कर ली थी। कुछ बच्चे नासीनू ट्रेनिंग कॉलेज चले गए थे। उन सबसे मेरा सम्पर्क समाप्त हो गया। पर जो विश्वविद्यालय गए उन्होंने आशा से अधिक अच्छा प्रदर्शन किया। वे उच्च शिक्षक, वकील, हाईस्कूल के प्राध्यापक आदि बने। 1980 के दशक की राजनैतिक उथल-पुथल के कारण, इनमें से कई लोग, आज, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, अमेरिका और कनाडा में, रहते हैं। हमने अपने खुद का काला पानी वानुआलेवू से सूवा की यात्रा करके तय किया था। हम असमंजस और असुरक्षित महसूस करते थे, पर सफलता पाने का हम में दृढ़ संकल्प था क्योंकि हमें पता था कि हम पीछे मुड़कर अब नहीं देख सकते थे। पीछे छोड़े हुए लोगों की आशाएं हमारे ऊपर टिकीं थीं। हमारी यात्रा एक शताब्दी पहले हमारे पूर्वजों द्वारा की गई यात्रा से भिन्न नहीं थी।

लबासा सेकन्डरी में फीजी-भारतीयों का बाहुल्य था। फीजी के अधिकतर स्कूल इसी तरह हैं—एक जाति के। यह जनसंख्या, भूगोल और जाति—सबको प्रतिबिंबित करती थी। लबासा मुख्य रूप से एक भारतीय चीनी नगर था। उसमें, साईम्मनस परिवार के कुछ अर्धयूरोपीय लड़के थे और कुछ चीनी भी थे—ली और जोइंग परिवार के—पर वे इतने तक ही सीमित थे। स्कूल में मुझे बस एक फीजियन लड़के की याद है—कालीवती बकानी जो एक लबासा अस्पताल के डाक्टर का पुत्र था। इसी कारणवश वह हमारे साथ था। अधिकांश फीजियन बच्चे, ज़िलों के अपनी जाति के अलग बने स्कूलों में ही पढ़ते थे। वहां के सफल छात्र, विशिष्ट क्वीन विक्टोरिया स्कूल में पढ़ने जाते। वह, समुद्र के पास, ग्रामीण ताईलेवू में, एक निर्जन स्थान पर स्थित था और बहुत ही सुंदर था। या, वे फीजियन छात्र, एक व्यावसायिक स्कूल, रातू कदावू लेवू स्कूल में जाते, जो फीजियन लड़कों के लिए ही था। जिस प्रकार से हमारे जीवन के रचनात्मक वर्ष, फीजी-भारतीयों के वातावरण में गुज़रे, उसी तरह फीजियन बच्चे बिल्कुल अलग फीजियन वातावरण में ही बड़े हुए। हम एक-दूसरे की सभ्यता और भाषा के बारे में अनभिज्ञ रहे और एक-दूसरे को पूर्वाग्रह और संकीर्णता का चश्मा लगाकर आंकते रहे। फिर भी, हमें, जिन्हें स्वतंत्रता के उत्तरार्ध के गिने-चुने युवाओं में गिना जाता था और जिन्हें अन्तर्जातीय संबंधों के बारे में कोई जानकारी भी नहीं थी—उन्हें राष्ट्र निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का दायित्व सौंपा गया—शिक्षक, प्रशासक, राजनेताओं के रूप में। इसीलिए स्वतंत्रता के बाद फीजी का इतनी बार लड़खड़ाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

लबासा सेकन्डरी, एक सरकारी स्कूल था। अतः उसके पास योग्यतम् शिक्षक थे। इसका तात्पर्य यह था कि अधिकांश शिक्षकों ने न्यूज़ीलैण्ड में या कुछ ने ऑस्ट्रेलिया में प्रशिक्षण प्राप्त किया था। शैक्षिक तौर पर हम न्यूज़ीलैण्ड के ही उपनिवेश थे।

ऑस्ट्रेलिया हमारे लिए दूर था—एकमात्र जाति का, अलग, श्वेत लोगों का देश। शिक्षकों के मामले में हम भाग्यशाली थे। वे अपने काम के प्रति पूरी तरह से समर्पित थे। उनमें आधुनिकतम् ज्ञान भरपूर था, वे हमेशा पूरी तरह से तैयार रहते थे, हमें हमेशा बढ़ावा देते थे और हम लोगों द्वारा परीक्षाओं में उच्च प्रदर्शन हो, इस बात के लिए वे सदैव कटिबद्ध रहते थे। उनको देखकर ऐसा प्रतीत होता था जैसे कि वे पूरी तरह से व्यावसायिक हों। शिक्षकों में कुछ स्थानीय लोग भी थे जिन्होंने अपने क्षेत्र में उत्कृष्टता प्राप्त की थी—कृष्णा दत्त और सुब्रमनी लबासा से ही थे। हम उनकी प्रशंसा करते और मन ही मन उनकी तरह का जीवन अपनाने का सपना देखते। आगे चल कर, कृष्णा एक अग्रणी ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता बने। उन्होंने फीजी लेबर पार्टी की स्थापना में सहयोग दिया और संसद की सदस्यता भी प्राप्त की। सुब्रमनी ने कनाडा में आगे की शिक्षा ली और यूनिवर्सिटी ऑफ साउथ पैसिफिक में साहित्य के प्राध्यापक बने। नौसोरी के विजय मिश्रा ने अंग्रेजी और मध्यकालीन भारतीय साहित्य में ऊंची शिक्षा प्राप्त की और अब वे पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के मडरोच विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य के प्राध्यापक हैं। अमरैया नायडू, जो हमारे कैमिस्ट्री के शिक्षक थे और लबासा के ही रहने वाले थे, बाद में फीजी में शिक्षा के स्थायी सचिव बने और 1990 के दशक के अंतिम वरणों में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ में फीजी का प्रतिनिधित्व भी किया। स्कूल के प्रधानाचार्य, श्री सरवन सिंह, आगे चलकर फीजी इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी के अध्यक्ष नियुक्त हुए। 1999 में, वे, फीजी संसद में लेबर सीनेटर भी बने। और लोग, जैसे हमारे गणित के शिक्षक, श्री वैंकट रेलू, और गुरूदयाल सिंह ने शिक्षा विभाग के मुख्य सचिवालय में नियुक्ति पाई।

हमारे शिक्षकों ने अपनी करनी और अपने व्यक्तित्व दोनों से हमें प्रेरित किया। वे खुद तो प्रेरित थे ही, हमको भी उन्होंने खूब रगड़ा। उन्होंने, हमें अपनी अधिकतम क्षमता को पहचानने के लिए प्रेरित किया ताकि हम अपनी संपूर्ण योग्यता को निखार सकें। उनका अनन्य विश्वास था कि आर्थिक और भौगोलिक बाधाओं के बावजूद हम कुछ कर सकते हैं, और यही हमारी सफलता का महत्वपूर्ण कारण भी बना। उन्होंने अपने जीवन के रचनात्मक वर्ष दूसरे देशों में बिताये थे और वे उन मौकों की विस्तृत जानकारी रखते थे जिनका हम उपयोग करके सफलता पा सकते थे। विदेशी शिक्षा से प्राप्त व्यापक दृष्टिकोण और अनुभवों ने उनके शिक्षण कार्य को प्रभावित किया था। तुलना करना, विकृति के साथ-साथ एक घृणित कार्य भी होगा, पर मुझे संदेह है कि आजकल के शिक्षकों में उसी तरह की व्यावसायिकता, और सर्वोच्चता प्राप्त करने की वैसी ही कटिबद्धता है जो पहले की पीढ़ी को प्रेरित करती थी। पहले की तरह, शिक्षण कार्य अब उतने सम्मान से नहीं देखा जाता। अधिकांशतः तो यह सार्वजनिक सेवा में कोई पद आदि पाने के लिए एक रास्ता बन जाता है।

सर्वोच्चतम् और योग्यतम् अब इस कार्य को नहीं अपनाते। फीजी के शिक्षक आजकल गुटबंदी की सभ्यता में कार्य कर रहे हैं जहां योग्यता से अधिक, राजनैतिक प्रभाव, उनकी नियुक्तियों और तरक्की में भूमिका निभाता है। इन्हीं कारणों के कारण, फीजी में घटित तख़्ता-पलट और राजनैतिक उथल-पुथल ने लोगों का मनोबल ही नहीं तोड़ा है वरन् उन्हें दूसरे व्यवसायों को अपनाने के लिए भी मजबूर किया है। जो भी कारण हों, हानि तो फीजी के छात्रों की ही है।

हमने अपनी सेकन्डरी पढ़ाई 1960 के दशक के अंतिम चरणों और 1970 के दशक के शुरूआती दौर में ख़त्म कर ली थी। देश उस समय दृढ़ रूप से स्वतंत्रता प्राप्ति की ओर अग्रसर हो रहा था। फीजी की भावात्मक, संवैधानिक व्यवस्थाओं की परिकल्पना करने हेतु समितियां गठित हुईं जिसमें हिस्सा लेने के लिए मारामारी मची, उप-चुनाव हुए जो जातीयता की भावना से प्रेरित थे। स्वतंत्रता विरोधी तत्वों ने साम्प्रदायिक दंगों की धमकी भी दी। फीजी में जातिकर एक बहुत विस्फोटक प्रसंग है। 'कोलोनियल शुगर-रिफाईनिंग कंपनी' को लॉर्ड डेनिंग की अध्यक्षता में गठित एक मध्यस्थता आयोग के सम्मुख प्रस्तुत होना पड़ा और उत्पादकों को पहले से बेहतर व्यवस्थाएं देने का वायदा करना पड़ा। इसी कंपनी ने लगभग एक शताब्दी तक हमारे जातीय और सामाजिक जीवन को निर्धारित किया था। 1970 में स्वतंत्रता प्राप्त हुई और डेनिंग के विचारों को स्वीकार करने में असमर्थ, सी.एस.आर. कंपनी, 1973 में चली गई। परंतु हमारे लिए इन ऐतिहासिक घटनाओं का कोई महत्व नहीं था। उनकी महत्ता हमें कभी समझाई नहीं गई। स्कूल में, कोई राजनीति पर या उस देश के भविष्य के बारे में चर्चा नहीं करता था, जिसके निर्माण में, आने वाले दिनों में, हमें विभिन्न तरह से योगदान देना था। हम एक औपनिवेशिक शिक्षा की देन थे, जिसका मुख्य लक्ष्य 'मानव-शक्ति' को प्रशिक्षण देकर शिक्षक, डाक्टर, लेखाकार, प्रशासक बनाना था—नये राष्ट्र के पहिये में जो दांता का काम करें। यह शिक्षा, राजनैतिक रूप से जागरूक ऐसे विचारक, जो राष्ट्रीयता और देश निर्माण हेतु परेशान करने वाले, झकझोरने वाले प्रश्न पूछें, पैदा ही नहीं करती थी। काफ़ी अरसे बाद मुझे शिक्षकों के बीच राजनीति को लेकर सावधानी से किए गए विचार-विमर्श के बारे में पता चला, पर सार्वजनिक रूप से उनके द्वारा अपनायी गई चुप्पी ही मुझे याद है। भविष्य में घटित होने वाली घटनाएं जो हमारे जीवन को अत्यधिक प्रभावित करने वालीं थीं, के बारे में, या तो वे हमें बताना नहीं चाहते थे या बता नहीं सकते थे।

परंतु, जिन बातों के लिए उन शिक्षकों को प्रशिक्षण मिला था उन चीज़ों को करना उन्हें भलीभांति आता था। उन्होंने दूसरी तरह से हमारे दृष्टिकोण व्यापक किए। हमें नये तरह के खेल सिखाये गए—जैसे हॉकी, क्रिकेट, और लॉन टेनिस। हर सत्र में स्कूल को स्थानीय थिएटर, 'एलीट' और 'मैजिस्टक' में, एक पिक्चर देखने ले

जाया जाता था--ऐसी पिक्चर जो शिक्षक हमारे देखने के लिए मुनासिब समझें। परिणामस्वरूप हमने एल सिड और बेनहर, ऐगोनी और एक्सट्सी और यूलीसीज़ देखीं, यद्यपि हम उन्हें समझ नहीं पाये। उनका विषय, पर्दे पर प्रयोग की गई भाषा, उनका सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भ--माईकिल एन्जेलो, सिस्टीन चैपल की चित्रकला--हमारी समझ के परे थी। वदरिंग हाईट्स, जिसमें लॉरेन्स ऑलिवर, गुस्सैल हीथ क्लिफ़ बनता है, की विवेचना कक्षा में हुई क्योंकि वह किताब उस साल हमारे पाठ्यक्रम में सम्मिलित थी। परंतु हिंदी की प्रतिष्ठित फिल्म, गंगा जमुना, जिसमें दिलीप कुमार और बलराज साहनी ने यादगार अभिनय का प्रदर्शन किया था, के बारे में हम कुछ नहीं जानते थे। इसमें भारत के एक गांव के दो भाइयों के बीच पारिवारिक कलह दिखाई गई है। इसकी कहानी की गूंज हमारे अनुभवों में सुनाई पड़ती थी। हम उन फिल्मों को समझें चाहे न समझें परंतु हम उस अंधकारपूर्ण जादुई थिएटर में जाकर स्कूल के काम से छुटकारा पाने के लिए कृतज्ञ थे। हमारे इतिहास के शिक्षक, कृष्णा दत्त ने, स्कूल के पहले छात्रसंघ की शुरूआत की। हमें पता है कि उसका विरोध हमारे प्रधानाचार्य ने किया था। विनसेंट नाइडू उसके अध्यक्ष चुने गए और मैं सचिव। आज मुझे कुछ ख़ास याद नहीं आ रहा है कि हमने संघ बना कर वास्तव में क्या पाया था? सिवाय इसके कि हम खुद को महत्वपूर्ण समझने लगे थे, शिक्षक हमें गम्भीरता से लेने लगे और कभी-कभी प्रधानाचार्य के दफ़्तर में हमारा एक शिष्ट मण्डल किसी छोटी-मोटी परेशानी को लेकर उनसे मिलने जाता, जैसे टेनिस कोर्ट को बेहतर बनवाने के लिए या फिर खिलाड़ियों के लिए और अधिक हॉकी स्टिक और गेंदों की व्यवस्था करवाने के लिए।

हमारे अंग्रेजी के शिक्षक, विजय मिश्रा ने, एक 'हेरेटिकल सोसायटी' गठित की जिसका अध्यक्ष मैं चुना गया था। हमें उस शब्द का अर्थ ही नहीं पता था, पर उससे कोई फर्क नहीं पड़ता था। कुछ नया, रोमांचक और क्रान्तिकारी कार्य करने में हमें बहुत मज़ा आता था। हर महीने, शिक्षकों द्वारा बताये गए महत्वपूर्ण विषयों पर हम वाद-विवाद करते। एक बार वाद-विवाद का विषय था, 'शराबियों को समाज में स्थान मिलना चाहिए।' हमने इसके विपक्ष में बोला। हम हार गए परंतु हमने अपने को सांत्वना दी क्योंकि उस प्रतियोगिता के एक जज जो इतिहास के शिक्षक थे, बाद में पीने के कारण जल्दी ही मर गए थे। दूसरे मौके पर हमने, 'मानव अध्ययन में विज्ञान और धर्म हमें बेहतर दृष्टिकोण देते हैं', विषय पर चर्चा की थी। हमने कौन-सा पक्ष चुना था, मुझे याद नहीं है। एक और बार मेरे नेतृत्व में मेरे दल ने इस विषय पर विजय हासिल की, कि हमें स्कूल में थांग्स आदि पहनने की छूट होनी चाहिये। हम स्कूल के हाते में या तो नंगे पैर या फिर सैण्डल और जूते पहन कर ही आ सकते थे, और कुछ नहीं। हमने अपना पक्ष मज़बूत करने के लिए ऐसे गूढ़ शब्दों का प्रयोग किया जैसे 'विशिष्ट वर्ग' और 'मजदूर वर्ग' आदि। पता चला कि

श्री जॉन शरन, हमारे प्रधानाचार्य, इससे नाखुश हुए पर विजय ने उन्हें यह कह कर दिलासा दिलाई कि ये केवल छात्रों की एक वाद-विवाद प्रतियोगिता ही है। संगीत क्लब और बायोलोजी क्लब द्वारा आयोजित कार्यक्रम इतने विवादास्पद नहीं होते थे। नरेश और बाबू प्रसाद के मीठे हिंदी गीतों को सुनना, केन टोड को काटना या कीड़ों के अंदरूनी भागों का निरीक्षण करना कोई विवाद नहीं खड़ा कर सकते थे। फिर भी, सब शिक्षक पढ़ाई से हटकर हुई इन गतिविधियों के पक्ष में नहीं थे। उन्हें लगता था कि वाद-विवाद या फील्ड दौरे हमारा समय नष्ट करते थे। हमें अपना एक-एक पल स्कूल के कामों में ही लगाना चाहिये, अपने गृह कार्य को समाप्त करने में लगाना चाहिए, परीक्षाओं की तैयारी में लगाना चाहिये। अंक सबसे अधिक महत्व रखते थे, हम स्कूल पढ़ने के लिए आए थे न कि इसलिए कि जो विषय पाठ्यक्रम में नहीं शामिल हैं उन पर वाद-विवाद करें। कुछ छात्र भी ऐसा ही सोचते थे। पर मुझे खुशी है कि ऐसे लोग अल्पमत में ही रहे।

कक्षाओं के शुरू होने से पहले हर रोज़ स्कूल की शुरूआत सुबह की कक्षा से होती थी जो 8.30 से 9.00 बजे के बीच लगा करती थी। उस आधे घंटे की कक्षा में क्या होता था वह शिक्षक पर ही निर्भर करता था। हमारे कक्षा अध्यापक, विजय मिश्रा, सृजनात्मक प्रवृत्ति के थे। उन्होंने वेलिंग्टन के विक्टोरिया विश्वविद्यालय से हाल ही में स्नातक की डिग्री हासिल की थी। वे एक सजीले व्यक्ति थे जो हमेशा बने-ठने रहते थे। उनके प्यार से संवारी हुई मोटी दाढ़ी थी, वे सुंदर दिखते थे और अंग्रेज़ी बोलने में उन्हें महारथ हासिल थी। उनके तौर-तरीके पाश्चात्य ढंग के थे। मैंने उन्हें कभी हिंदी शब्द बोलते नहीं सुना और हम आपस में यही सोचते थे कि उन्हें वह भाषा आती भी है या नहीं। कक्षा के प्रत्येक बच्चे से दो डॉलर की रकम लेकर, विजय ने कक्षा में, अंग्रेजी और यूरोपियन भाषा की चिर प्रतिष्ठित पुस्तकों का एक पुस्तकालय शुरू किया। हम सबको एक किताब दी जाती और सुबह की कक्षा में उसके बारे में हमें बताना होता था। किताब देते समय हमारी सांस्कृतिक या शैक्षिक पृष्ठभूमि का कोई ख़्याल नहीं रखा जाता और न ही हमारे अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान के स्तर का। परिणामस्वरूप हमने, जेन ऑस्टन, एमिली और शारलेट ब्रोन्टे, जॉन गैल्सवर्दी, सर वॉल्टर स्काट, चार्ल्स डिकिन्स, जॉर्ज एलियट, जेम्स ज्वायस(द डब्लिनर्स), थॉमस हार्डी, डी.एच. लॉरिन्स, विलियम गोलडिंग, पैट्रिक व्हाईट, रैन्डोल्फ स्टो, जोज़ेफ कॉनरेड, दोस्तोविस्की, टॉल्सटॉय, तुर्गनेव, बेल्ज़ेक, एमिली ज़ोला आदि लेखकों की किताबें पढ़ीं।

मैं जानता हूं कि यह सूची भयभीत करने वाली है और जिस दिन पुस्तकों का व्याख्यान करना होता था उस दिन कई रहस्यमय पेट दर्द शुरू हो जाते थे। पर हम में से कइयों के लिए इन पुस्तकों ने नये क्षितिज खोले और हमारे नीरस ग्रामों के परे हमारी कल्पना को उड़ान दी। हमारे अंदर लिखित शब्द के प्रति प्रेम उपजाया

जो आज भी मेरे साथ है, यद्यपि आधुनिक तकनीक ने आज आश्चर्यजनक परिवर्तन किए हैं। सब ज्ञान और सीख प्रकाशित पृष्ठ से मिलती है, यह एहसास मुझमें घर कर गया। मैंने, और छात्रों से आगे निकल कर लाउटोका के वेस्टर्न रीजनल पुस्तकालय से पुस्तकें मंगाना शुरू कर दिया। कई वर्षों के बाद मैं उस आदमी से मिला जिसे मुझे किताबों का पार्सल भेजना याद था और वह उस समय सोचता था कि सब जगहों को छोड़कर लबासा में यह कौन लड़का है जो रूसी लेखकों की किताबों में रुचि रखता है। एक दिन जब विजय को पता चला कि मैं 'ऐने करीना' पढ़ रहा हूं तो वे वाकई हैरत में पड़ गए और उन्होंने उसके बारे में अपनी अंग्रेजी की दो सम्मिलित कक्षाओं के सम्मुख मुझसे बोलने के लिए कहा—यानी उस पुस्तक की विवेचना करने के लिए कहा—मेरे लिए, यह अपने में एक अनुभव था और सार्वजनिक तौर पर बोलने की प्राथमिक सीख।

हमें उस समय पता नहीं था, पर हमें ऐसी शिक्षा दी जा रही थी जिसका फीजी में मिलना मुश्किल था। सूवा के महात्मा गांधी हाई से सिर्फ एक तुलना ही इस तथ्य को उजागर करता है। वहां मेरे एक मित्र ने मुझे बताया कि लड़कियों को वहां पूर्ण रूप से विज्ञान विषय लेने के लिए मना किया जाता था। जन्तुविज्ञान तो ठीक था पर भौतिकविज्ञान के लिए मनाही थी। उस स्कूल के अंग्रेजी के शिक्षक, जो एक जानी-मानी राष्ट्रीय नेता थीं, बहुत कम स्कूल में दिखतीं थीं। जब आतीं भी, तब उनका ध्यान कहीं और रहता और उनमें बड़ा दंभ भरा रहता। फीजी-भारतीयों के प्रति, यह रवैया, अधिकांश रूप से भारत में पैदा हुए शिक्षकों का था। वे दकियानूसी सिद्धान्त के मानने वाले थे कि विज्ञान के छात्रों को अच्छी अंग्रेजी जानने की आवश्यकता नहीं थी। छात्रों के बुरे प्रदर्शन के लिए वे छात्रों को ही दोष देते। प्रधानाचार्य, जो भारत में ही जन्मे थे, अधेड़ आयु के अविवाहित व्यक्ति थे जो संकीर्ण और अत्यन्त रूढ़िवादी विचारों से प्रेरित थे। वे 'टाइम' पत्रिका से मॉडल्स की तस्वीरें काटने के बाद ही उन पत्रिकाओं को पुस्तकालय में रखते क्योंकि उन्हें डर था कि ये तस्वीरें, उनके सुपुर्द, लड़के और लड़कियों की नैतिकता को प्रभावित करेंगीं।

इसके अतिरिक्त वे समाज में अपने हिमायतियों का साथ देते और अमीर घरों के बच्चों का हमेशा विशेष ख़्याल रखते। वे शिक्षक कम रूढ़िवादी सामाजिक नैतिकता को लागू करने वाले एक अधेड़ व्यक्ति अधिक थे। उनका मानना था कि स्कूल में लड़कियां अच्छी पत्नियां और मां बनने आयीं हैं, एक काम करने वाली महिला का विचार उनके लिए बिल्कुल अजनबी था। महात्मा गांधी हाई में, विजय मिश्रा जैसे शिक्षकों को, जिन्होंने अपने अधिक तेज़ बच्चों को 'लेडी शैटरलीज़ लवर' की प्रतिलिपि भी उपलब्ध कराई थी, पत्थर मारे जाते।

जिस साल फीजी स्वतंत्र हुआ उसी वर्ष हमने हाईस्कूल समाप्त किया। इस तरह हमारी पीढ़ी आखिरी थी जिसने औपनिवेशिक कोर्स पढ़ा और उन प्रश्नपत्रों

के उत्तर दिए जो न्यूज़ीलैण्ड में बैठे शैक्षिक अधिकारियों द्वारा बनाए जाते। हमसे पहले के छात्रों ने केंब्रिज सिन्डीकेट द्वारा बनाए गए प्रश्नपत्र किए थे। ये प्रश्नपत्र अफ्रीका, कैरीबियन और पैसीफिक में अंग्रेज़ी उपनिवेशों के प्राथमिक और माध्यमिक छात्रों के लिए बनाए जाते। हमारे बाद के छात्रों को कला और सामाजिक विज्ञान के क्षेत्रों में स्थानीय जानकारी के बारे में अधिक पढ़ना होता था। 'प्रासंगिकता' पर हमारे समय के मुकाबले अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। हमारे बाद आए जूनियर छात्रों के लिए सामाजिक विज्ञान के पाठ्यक्रम का कुछ अलग ही उद्देश्य था। उनमें ऐसे विषयों पर ज़ोर दिया जाता जैसे बहुसांस्कृतिक राज्य में रहना, उसमें उठे तनावों को दूर करना, और फीजी के इतिहास और भूगोल के बारे में। बाह्य दुनिया से फीजी के सम्पर्क की शुरूआत के इतिहास के बारे में, छात्र पढ़ते : खोज की तथाकथित सामुद्रिक यात्राएं, यूरोपीय बस्तियों का बसना, व्यापार और एक नये धर्म की शुरूआत, और ऐसे संबंधों का, राजनैतिक ढांचे, कबीले युद्ध, स्वास्थ्य, और नये विचारों के जन्म पर प्रभाव भी पढ़ते। ऐसे सम्पर्क के परिणामस्वरूप हुए राजनैतिक विचारों के उत्कर्ष और अन्ततः 1974 में फीजी द्वारा इंग्लैण्ड को समर्पण के बारे में भी, हम, पढ़ते—समर्पण के कारण और परिणाम, प्रथम गवर्नर सर आर्थर गार्डन के प्रशासन की परेशानियां, देशी फीजियों के लिए पृथक फीजी प्रशासन की स्थापना, चीनी उद्योग का आगमन और शर्तबंधी मज़दूरी की मुख्य बातें—जिसमें भरती के तरीके और कार्य करने का वातावरण भी शामिल था, समर्पण से स्वतंत्रता तक फीजी का संवैधानिक विकास, सबके बारे में हम पढ़ते। व्यापकता की गहनता प्रभावशाली है।

भूगोल के छात्रों को फीजी के मुख्य भौगोलिक तथ्यों के बारे में जानना और समझना ज़रूरी था और अपने देश की भौगोलिक प्रक्रियाओं और व्यवस्थाओं को अपने जीवन में धार लेना भी आवश्यक था। उन्हें, भौगोलिक स्थितियों, जनसंख्या, भूमि का प्रयोग (अर्थयापन, ग्राम खेती, व्यापारिक खेती, गन्ना एवं नारियल उगाने के तरीके, डेरी, मांस के लिए मवेशियों की देख-रेख, मौसम और मिट्टी) के बारे में जानना होता था। उन्हें ऐसे उद्योगों के बारे में भी पढ़ना होता था जैसे मत्स्य व्यापार, वन विद्या, खनन उद्योग और उत्पादन। यातायात और संसाधनों के बारे में भी जानना होता था, जिसमें फीजी और अन्य विश्व के जल मार्ग और वायु मार्ग भी शामिल थे। सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में एक नये दृष्टिकोण का प्रतिपादन करके छात्रों को आधुनिक जीवन के लिए तैयार करने के साथ-साथ अपने अस्तित्व को बनाए रखना भी सिखाया जाता था। सहिष्णुता, समझदारी, और दूसरों के प्रति सद्भावना, आत्म-विश्वास, खुद्दारी और ज़िम्मेदारी का एहसास, व्यक्ति के प्रति आदर और मानव अधिकारों का ज्ञान, स्थापित विधि-व्यवस्था के अन्तर्गत परिवर्तन को स्वीकार करने की समझ—ऐसे ही मूल्यों को, स्कूल का पाठ्यक्रम, छात्रों को प्रोत्साहित करने का प्रयास करता था। अंग्रेज़ी का पाठ्यक्रम दक्षिणी प्रशांत क्षेत्र के अध्ययन का विकल्प

भी देता था, जिसमें स्थानीय लेखकों और तृतीय विश्व के अन्य लेखकों के कार्यों का परिचय कराया जाता। इसमें स्थानीय समाचार पत्रों से कुछ अंश भी शामिल किए जाते (हमारे परिज्ञान के लिए)।

यह ज्ञान—काफी कुछ स्थानीय और सुपरिचित—स्कूल छात्र के रूप में मेरे लिए एक अजनबी ही बना रहा। विश्वविद्यालय और उसके बाद ही मुझे फीजी और प्रशांत संबंधी जानकारी प्राप्त हुई। जिस संसार में, मैं पला-बढ़ा, उसके बारे में, मुझे कोई ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था। मेरे हिसाब से फीजी मंगल ग्रह भी हो सकता था! उदाहरण के लिए, हम, भूगोल का पाठ्यक्रम लेते हैं। 1960 के दशक में पढ़ने वाले बच्चे बर्मा, मध्य चीन, मलाया, सिंगापुर, मंचूरिया, दक्षिण पश्चिमी एशिया के बारे में पढ़ते। पूर्व ऐंगलिया, स्कॉटलैण्ड की मध्य भूमि की घाटी, दक्षिणी वेल्स के बारे में हमें पढ़ाया जाता : ब्रिटनी, डेन्मार्क, फ्रांस के भूमध्यसागर के तटीय प्रदेश, उत्तरी इटली के प्रायद्वीप, रूर, के बारे में हमें जानकारी दी जाती। कैलीफोर्निया, कनाडा के समुद्रवर्ती प्रान्तों, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की मक्का उत्पादन की भूमि, फ्लोरिडा और सेन्ट लॉरेन्स घाटी, सब हमारे पाठ्यक्रम में शामिल था। एक अध्याय न्यूज़ीलैण्ड, ऑस्ट्रेलिया और प्रशांत महासागर के द्वीपों के बारे में भी था। 1962 में स्कूल सर्टीफिकेट परीक्षा में बैठने वाले छात्रों को नार्थलैण्ड के विभिन्न दृश्यों, ऑक्लैण्ड में वैज्ञानिक डेरी फार्मिंग, उत्तरी ग्रामीण इलाकों, जल दौड़, कैन्टरब्यूरी में सिंचाई-व्यवस्था, वेस्टलैण्ड में कोयले की खुदाई, स्नोई नदी परियोजना, रेनमार्क, दक्षिण ऑस्ट्रेलिया के समीप सिंचाई खेती, और कुक द्वीपों में यातायात की परेशानियों, के बारे में, पता होना चाहिये था। साल दर साल वही कहानी दोहराई जाती। छात्रों को हर वर्ष ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड और यूरोप के प्राकृतिक नक्शों, लिवरपूल और मैनचेस्टर की औद्योगिक शक्ति, और न्यूज़ीलैण्ड और ऑस्ट्रेलिया के भेड़पालन उद्योग के बारे में याद करना पड़ता था।

इतिहास का किस्सा भी, ऐसा ही था। शुरूआती कक्षाओं में हम न्यूज़ीलैण्ड में लेबर पार्टी के उदय, प्रशीतन उद्योग का न्यूज़ीलैण्ड की खेती में महत्व, रूर जूलियस वोगल की आर्थिक नीतियां, वेकफील्ड योजना, माओरी युद्ध, सर अपिराना नग्ता के जीवन और उनकी उपलब्धियां, जॉन मैकआर्थर, मेरिनों भेड़ और आवादकारों—इन सबके बारे में पढ़ते थे। विक्टोरियन गोल्ड रश और तेज़ी से बढ़ रहा ऊन उद्योग, जैसे विषयों के बारे में भी हमें पढ़ाया जाता। ऊंची कक्षाओं में, इसके विपरीत, हम विश्व इतिहास से संबंधित विषयों का अध्ययन करते (परंतु अधिकांश रूप से पश्चिमी इतिहास पर ही ज़ोर होता)। परिणामस्वरूप, जर्मनी और इटली के एकीकरण, बिस्मार्क, मैज़िनी, कावूर, गैरीबॉल्डी के अपने देशों के इतिहास के प्रति योगदान, क्रीमिया युद्ध, प्रथम विश्वयुद्ध जो यूरोप के शक्ति संतुलन के बिगड़ने के कारण घटा और जिसने बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में सशस्त्र शांति को भंग किया, रूस की बोलशेविक क्रान्ति और उसमें लेनिन, स्टालिन और ट्रॉटस्की का योगदान, जर्मनी में अडोल्फ

हिटलर और इटली में मुसोलिनी का उदय, संयुक्त राज्य में ट्रेड यूनियन आंदोलन की शुरूआत और संक्षेप में एशिया के नये राष्ट्रों का उदय, के बारे में हमने ज्ञान अर्जित किया।

कृष्णा, विषय को मुग्धकारी रोमांच से पढ़ाते थे। वे अपना व्यक्तिगत पुस्तकालय हमारे लिए खोल देते थे। हमें ज्योफ़री बैराक्लो, डेनिस मैकस्मिथ, पर्सीवाल स्पीयर, एल.सी.बी. सीमैन, और ए.जी.पी. टेलर द्वारा लिखित पुस्तकें उधार पर पढ़ने के लिए मिलीं। मुझे पक्की तरह से यह नहीं याद है कि इन इतिहासकारों द्वारा दिए गए जटिल तर्क और आधार हमें समझ में आते भी थे या नहीं। परंतु असल बात यह नहीं थी। इन पुस्तकों ने, हमारे लिए, अतीत की खिड़की खोली—तब भी जब वह अतीत हमारे लिए काफी दूरस्थ प्रतीत होता था। इन पुस्तकों ने ही, हमें, सम्पूर्ण विश्व और इतिहास के अन्य अनुभवों से जोड़ा। पुस्तकों के सार से अधिक सीखने की प्रक्रिया महत्वपूर्ण थी। कृष्णा में थियेटर की भी अद्भुत सूझबूझ थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक सुबह, वे कक्षा में, अपने गले में, एक विज्ञापन लगाकर आए थे, जिसमें कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो की शुरूआती पंक्तियां लिखीं थीं—'विश्व के श्रमिक संगठित हो। तुम्हारे पास तुम्हारी बेड़ियों के खोने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।' उन्होंने स्कूल में एक छोटी-सी खलबली भी मचा दी थी जब उन्होंने हिटलर के जन्मदिन को याद रखने का प्रस्ताव रखा था। उनका तर्क था कि वह बीसवीं शताब्दी के इतिहास का एक महत्वपूर्ण—दुष्ट लेकिन महत्वपूर्ण—व्यक्ति था।

अंग्रेजी की कक्षा में हम साहित्य और भाषा दोनों पढ़ते थे। मुझे व्याकरण बहुत अच्छी नहीं लगती थी। मुझमें, कोऑरडिनेट क्लाज़ेज़, ऑक्जलिरी, इन्फीनाईट और इन्ट्रान्सिटिव वर्ब, पॉसेसिव विशेषण और प्रोनाउन, प्रेडीकेट और प्रेपोज़िशन और सबऑर्डिनेट कन्जेक्शन, को लेकर विशेष उत्साह नहीं था। यह ज्ञान ज़रूरी था पर रूखा था। खेतों पर रहने वाले लड़के को, जिसके पास केवल ज़रूरत भर अंग्रेजी का ज्ञान ही हो, उसे, इफैक्टेड और ऐफैक्टेड, लॉडेबल और लौडेट्री, इनइफैक्टिव और इनइफैक्चुअल, कन्टीन्यूअसली और कन्टीन्यूअली, ऑबज़ेरवेन्स और ऑबज़ेरवेशन, डॉमिनेटिंग और डॉमिनियरिंग के बीच का अन्तर सिखाने की कोशिश करके तो देखिये!

साहित्य का अध्ययन कुछ अलग ही था। विशेषकर जिस तरह से विजय मिश्रा और सुब्रमनी उस विषय को पढ़ाते थे। विजय, बौद्धिक रूप से दक्ष, शांत और सहज थे जबकि सुब्रा अधिक विद्वान, विचारमग्न, और अन्तर्मुखी थे। दोनों ही श्रेष्ठ शिक्षक थे, जिन्होंने हमें कल्पना के उड़ान की सुखद अनुभूति करना सिखाया और पढ़ने और मनन करने की आदत भी उन्होंने ही डलवायी। उनसे ही मैंने सीखा कि पढ़ने-लिखने वाला जीवन व्यर्थ नहीं जाता है और शिक्षण कार्य एक श्रेष्ठ व्यवसाय है। पुस्तकें हमारी आंतरिक प्रगति में सहायक होतीं हैं और हमारे बुरे से बुरे वक्त में, वे, स्थायी, शिकायत न करने वाली, और सुगम्य मित्र सिद्ध हो सकतीं हैं—यह

सब उन्हीं शिक्षकों से मैंने सीखा। इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि दोनों ने ही, आगे चलकर, अपने-अपने क्षेत्रों में एक प्रतिष्ठित स्थान पाया!

इस अच्छी, मुक्तिदायिनी और मानवीय शिक्षा का, बस एक ही लक्ष्य था—छात्रों को बाह्य परीक्षाओं में उत्तीर्ण कराना। सब कुछ उस एक घटना पर आधारित था जो एक लंबे, भाग्यनिर्णायक सप्ताह भर चलती थी। व्यक्तिगत परिस्थितियां जैसे परिवार में मौत या बीमारी या कोई और दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना, पूरे साल या सालों में की गई कड़ी मेहनत, कोई मायने नहीं रखती थी। हम आशा करते थे और प्रार्थना भी कि परीक्षाओं से पहले कुछ अनहोनी न घट जाये। परीक्षाओं से एक या दो दिन पहले कक्षाओं की विभाजक दीवारें हटा दी जातीं। एक बड़ा-सा व्यक्तित्वहीन हॉल बना दिया जाता जिसमें लकड़ी के डेस्क और कुर्सियां, करीने से, पंक्तियों में लगा दी जातीं। निर्धारित दिन अनेक प्रकार के केशविन्यास किए श्वेत महिलाएं मोटर-कार में आतीं। ये कारें सील किए हुए डिब्बों से भरी रहतीं। इन डिब्बों में प्रश्नपत्र होते थे। हम बाहर बड़ी बेसब्री से प्रतीक्षा करते और वे उन डिब्बों को खोलकर डेस्क पर प्रश्नपत्र रख देतीं। तब हमें अंदर बुलाया जाता। हमारी हथेलियां पसीने से गीली हो रही होतीं और हमारे दिल तेज़ी से धड़क रहे होते। निरीक्षक, नियमों को पढ़ कर सुनाते—किसी से हम कोई बात नहीं कर सकते थे, सब लिखित कागज़ हमें समर्पित कर देने पड़ते थे और परीक्षा के प्रथम घंटे में परीक्षा कक्ष छोड़कर कोई नहीं जा सकता था। फिर दस मिनट प्रश्नपत्र को पढ़ने के बाद, हम शुरूआत करते।

प्रश्न पूरी तरह से अपरिचित नहीं होते क्योंकि उन विषयों को हम स्कूल में पढ़ चुके होते थे। फिर भी उस तनावपूर्ण वातावरण में, सीधे-सादे प्रश्न भी टेढ़े प्रतीत होते और जो तथ्य हमारी उंगलियों पर रटे हुए होते थे उनका वहां याद आना बहुत मुश्किल हो जाता। लंबे निबंध जैसे प्रश्न, तो हम जैसे-तैसे कर लेते। उदाहरणार्थ—माओरी युद्धों का माओरी लोगों पर प्रभाव, 1929 की आर्थिक मंदी के कारण, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया के संयुक्त राज्य बनने में सहायक घटनाएं, अफ्रीका के विभाजन का अर्थ, या सोवियत इतिहास में लेनिन, ट्राटस्की या स्टालिन का योगदान। जैसा कि प्रायः हुआ करता था छोटे प्रश्न हमारी हवा निकाल देते, जैसे—सामाजिक सुधार के संदर्भ में ग्लैडस्टोन और डिज़रायली की नीतियों की तुलना, आयरलैण्ड में हुए संसदीय सुधार और विदेश नीति, या 1931 की इम्पोर्ट ड्यूटीज़ एक्ट के तथ्यों का विवरण, गोल्ड स्टैन्डर्ड, राज्यत्याग की समस्या, 1928 का संसदीय सुधार कानून या आयरिश फ्री स्टेट।

अंग्रेजी में भी यही हाल था। साहित्य वाला हिस्सा, जिसमें, गद्य, पद्य और नाटक होता था, हमें जाना-पहचाना प्रतीत होता था क्योंकि हमने वह सब कक्षा में पढ़ा हुआ था। निर्धारित उपन्यासों की सूची में से—जेन आयर, सिलास मेरिनर, ऑलिवर ट्विस्ट, अंडर द ग्रीनवुड ट्री, हक्लाबरी फिन, वदरिंग हाईट्स, लॉर्ड जिम, क्राई, द

बिलव्ड कन्ट्री, ऐनीमल फार्म, द पर्ल, मैन अलोन, किंग सॉलोमन माइन्स, प्राइड एण्ड प्रेज्यूडिस, टाईफून, ए टेल ऑफ टू सिटीज़, द वॉर ऑफ द वर्ल्ड्स, वैनिटी फेयर, आदि की मुख्य कथा की रूप-रेखा, हम, बना सकते थे। उस उपन्यास की एक महत्वपूर्ण घटना को चुनकर, शायद कहानी की पराकाष्ठा, का वर्णन भी, हम, तीन-चौथाई पन्ने में, संक्षिप्त रूप से, कर सकते थे। नाटकों में हम विलियम शेक्सपियर, ऑलिवर गोल्डस्मिथ, रिचर्ड शेरीडन, जॉर्ज बरनाड शॉ, जे.बी. प्रीस्टली. थॉर्नटन विल्डर या टेरेन्स रैटिगन के किसी एक का नाटक चुनकर, उसके एक मुख्य पात्र का चरित्र-चित्रण कर सकते थे। उसमें हम ऐसी घटना का हवाला देते जिसमें उस पात्र ने अहम भूमिका निभायी हो। पद्य में हमें काफी कुछ पता रहता था—या काफी कुछ पता होना चाहिए था—ताल, मापक, मुक्तछंद, लघु त्रिमापक या चौमापक, वीररस प्रधान दोहे, चतुर्दशपदी या गाथागीत—सब का ज्ञान हमें होना चाहिये था। संकेत, इशारा, रूपक कथा और तालमाप—कुछ काम चलाने भर का आता था। परंतु कुछ रचनात्मक लिखना हमारे छक्के छुड़ा देता। कितनी भी कोशिश करें, परंतु हमें, आधुनिक कला पर एक लंबा, तथ्यपूर्ण अनुच्छेद लिखना, दुश्वार हो जाता। एस्ट्रोनॉटों, पश्चिमी फिल्मों, बोतल आंदोलन, फूल प्रदर्शनी में मुख्य प्रदर्शन, घर में टेलीविज़न का होना ठीक या नहीं, पर्वतारोहण का रोमान्च, बच्चे की देखभाल और एक शरदऋतु की सुबह (गर्म और नमी वाले लबासा में!)—इन सबके बारे में लिखना बहुत ही कठिन था। अगर सच कहा जाये तो, हमारा, परीक्षाओं में पास होना और वह भी अच्छे अंकों के साथ, एक चमत्कार से कम नहीं था।

परीक्षाओं के पश्चात्, हम सब, गांव में, अपने-अपने घर चले जाते थे। वहां, गर्म, नमी वाले महीनों में, हम, खेतों पर काम करते। धान बोते, गन्ने के खेतों की निराई करते और अमीर पड़ोसियों के यहां पैसों के लिए काम करते। लगभग दो महीनों के लिए, हम, अपने मित्रों और अन्य विश्व से बिल्कुल अलग-थलग पड़ जाते। इस अनुभव के परिणामस्वरूप, हमें अकेलेपन का बहुत एहसास होता। स्कूल में इतना कुछ करने के बाद फिर एक ऐसी जगह आकर रहना जहां कभी कुछ घटित ही नहीं होता था, जहां कोई आपके कार्य को नहीं समझ पाता था—एकाकी महसूस करने के लिए पर्याप्त था। वहां आपकी नई कल्पनाओं की दुनिया, जिसे आप खोज रहे थे, या आपके नये मित्रों के बारे में, या आपके किशोर हृदय की रूमानी फड़फड़ाहट के बारे में, कोई नहीं समझ पाता था। अपना मानसिक सन्तुलन बनाए रखने के लिए, स्वयं, जो मिलता उसे पढ़ा करते, खुद अपने से या किताबों में मिले विभिन्न पात्रों से असीमित वार्तालाप करते और पद्य और रामायण की पंक्तियां कंठस्थ करते। हम स्कूल के शुरू होने का वेसब्री से इंतज़ार करते।

हमारे स्कूल छोड़ने के बाद भी, हमारे शिक्षक, हमारी जीविका के मामले में, एक बड़े भाई की तरह, रुचि रखते रहे। कुछ तो हमारे मित्र बन गए परंतु एक

आदरपूर्ण दूरी, ऐसे संबंधों में, फिर भी बनी रही। यह ठीक भी था क्योंकि इससे पुरानी गुरु-शिष्य परंपरा कभी पूरी तरह से खत्म नहीं होती है। हम अपने शिक्षकों का पूर्ण रूप से आदर करते थे—ऐसा आदर जिसमें श्रद्धा का पुट भी था। हमने कभी जवाब देने की हिम्मत नहीं की, कभी उन्हें पहले नाम से नहीं बुलाया और जब उन्हें हम सामाजिक उत्सवों में देखते तब हम वहां से भाग लेते थे। परंतु, अधिकांश साथियों से, मेरा सम्पर्क टूट गया है। जब भी हम सिडनी, मेलबर्न, ब्रिसबेन या ऑकलैण्ड में मिलते हैं—जहां भी फीजी निवासी रहते हैं—हम लबासा और अपने साथियों और शिक्षकों के बारे में अवश्य बात करते हैं, रोचक कहानियों का आदान-प्रदान करते हैं, और उन क्षणों को फिर याद करते हैं जो हमारे जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ गए हैं। उस दिन सुरेश याद कर रहा था कि किस तरह एक शिक्षक को उन बच्चों को घूसा मारना बहुत अच्छा लगता था जो केमिस्ट्री की कक्षा में तत्वों का परमाणु भार याद नहीं रख पाते थे। आतंक के राज्य से, वह हमेशा भयभीत रहता था। जब वह स्वयं शिक्षक बना तब उसने शपथ ली कि वह कक्षा में हिंसा का प्रयोग कतई नहीं करेगा।

मुझे कक्षा बारहवीं का वह दिन भी याद है, जब वह लड़की, जिसे हम सब प्यार करते थे, मध्यान्तर में कमरे से जिस समय बाहर निकली तब उसकी ड्रेस में पीछे एक लाल धब्बा लगा था। वह कक्षा में वापस नहीं आयी और दूसरे दिन भी वह अनुपस्थित रही। मुझे पता था कि वह खून था पर उसे चोट कैसे लगी, मैंने पास बैठे इमैन्यूएल से बुदबुदा कर पूछा। इमैन्यूएल ने अचरज से सिर हिलाया और उसने मेरे स्त्री-ज्ञान पर एक पूरी क्लास ले डाली। जीवन में, इतनी आयु होने पर भी, इतना भोलापन या बुद्धिहीनता! सतीश को लियाकत की एक कहानी याद हो आयी थी। लियाकत, एक मोटा-सा लड़का था जिसमें विनोदशीलता थी। एक बार इंटरवल से कुछ समय पहले ही उसे शारीरिक—कामोत्तेजना का आभास हुआ। वह उसके लिए कुछ नहीं कर पा रहा था। हम उठकर जाने लगे परंतु वह बैठा ही रहा—असहाय-सा। हम खूब ज़ोर से हंस पड़े जिससे शिक्षक का ध्यान हमारी तरफ़ आकर्षित हो गया। वे, लियाकत के पास, हमारी हंसी का कारण जानने के लिए आए। लियाकत बैठा रहा और उसने अपने अकड़े हुए पैर और भयंकर सिरदर्द का बहाना बनाकर बचना चाहा।

हाईस्कूल में पाई गई शिक्षा के बारे में मुझे कोई मलाल नहीं है क्योंकि जो बातें मेरे जीवन में रह गईं थीं, उन्हें मैंने वहां पाया और फिर मैंने अपना जीवन फीजी के इतिहास और उसकी राजनीति के अध्ययन में लगा दिया। मुझे अपने अन्य साथियों के लिए दुख होता है जिन्होंने दूसरी जीविकाएं चुनीं। उन्होंने अपने समाज और सभ्यता के बारे में कुछ नहीं जाना। उनके जीवन को जिन ऐतिहासिक शक्तियों ने गढ़ा, वे उनसे अनभिज्ञ रह कर ही अपना जीवनयापन करते रहे। लबासा सेकन्डरी

ने हमारा सांस्कृतिक और बौद्धिक एकाकीपन का अन्त किया। उसने ग्रामों के क्षितिज के पार की दुनिया, हमारे लिए खोली। मोटे तौर पर हुई ऐतिहासिक घटनाओं से, उसने, हमें जोड़ा। हमारे अंदर सर्वोच्चता को पाने की कटिबद्धता उपजाई और व्यक्तिगत पहल और आत्मनिर्भरता में, हमारा, अटूट विश्वास जगाया। इतने दिनों पहले के पाये हुए मूल्यों ने ही मेरे जीवन और कार्य की गढ़त की है। मैंने और मेरे अधिकांश साथियों ने भी, पश्चिमी शिक्षा पाकर भी, अपनी स्वयं की सभ्यता और संस्कृति को नहीं बिसराया। घर में, हम, रामायण का पाठ और हिंदी समाचार पत्रों का अध्ययन करते रहे। अपनी पूजा-अर्चना करते और हिंदू धर्म के सभी तीज-त्यौहार मनाते। फीजी से बीस वर्षों की दूरी के बावजूद, मैं अब भी हिंदी पढ़ता और लिखता हूं—एक किताब भी मैंने हिंदी में प्रकाशित की है। भारतीय संगीत का आनंद भी लेता हूं और भारतीय खाना मुझे पसंद है। पश्चिमी शिक्षा ने, मुझे, मेरी बहुसांस्कृतिक पहचान की चेतना प्रदान की है।

जब भी, मैं, अपने बचपन के दिनों की याद करता हूं, तब हमेशा मुझे सुभाष की याद हो आती है—वह छोटा-सा, गम्भीर लड़का जो, बहुत सुबह सड़क के किनारे खड़ा होकर, स्कूल बस की प्रतीक्षा किया करता था। उसने हमारी यादों पर एक अमिट छाप छोड़ी थी। सफ़ेद यूनीफॉर्म में, वह हम सबके लिए, एक प्रेरणा स्रोत था और एक ऐसी मिसाल था जिसका हम अनुसरण करना चाहते थे। वह, हम में से एक था परंतु उसने एक ऐसे रास्ते को अपनाने का प्रयास किया, जो उसे, गांव की रोज़मर्रा और मानसिक उत्थान में रुकावट पैदा करने वाली जिंदगी से दूर ले जाता। हमारी पीढ़ी का वह पहला इन्सान था जिसने खोज की यात्रा, जो हमारे पूर्वजों ने शुरू की थी, उसे ज़ारी रखा। सुभाष के बाद फिर पीछे मुड़कर देखने का सवाल ही नहीं पैदा होता था। अतीत, अतीत बन चुका था।

गंगा पर सूर्योदय

जो जन्म के बंधन को तोड़ता है,
शुभ अवसर का दामन थामता है,
परिस्थितियों के प्रहार वक्ष पर झेलता है,
और अपने दुर्भाग्य से जूझता है...
सशक्त साम्राज्य के नियमों को गढ़ने,
व सिंहासन से आ रही फुसफुसाहटों को मोड़ता है।

टेनिसन, इन मेमोरियम, स्पटए
(हिन्दी रूपांतर)

गंगा पर सूर्योदय—हिंदू धर्म की सबसे पवित्र नदी में, धुंधियाते उषाकाल में स्नान करना—इस विचार में कितनी रोमानियत है। मैंने गंगा को बीस साल पहले, अपनी भारत यात्रा के दौरान, देखा था। तब मैंने नदी में स्नान करके अपने गिरमिटिया बाबा के लिए पूजा की थी। यह मेरे पिता की इच्छा थी। मैं उनके लिए एक बोतल गंगाजल भी लाया था। उसे, वह अपनी सभी वस्तुओं में सबसे मूल्यवान संपत्ति मानते थे। उन्होंने उसे बड़े सहेज कर हरे टिन के पास रखा था। उस टिन में परिवार के महत्वपूर्ण दस्तावेज़ रखे रहते थे—भूमि के पट्टे के कागज़ात, जन्म प्रमाण-पत्र, लाल कपड़े में बंधीं कुछ पवित्र धार्मिक पुस्तकें, पुराने साम्राज्यवादी सिक्के और अतीत से जुड़ीं कुछ और वस्तुएं। कई श्रद्धालु हिंदुओं की तरह मेरे पिता भी यह मानते थे कि गंगाजल की एक बूंद मरने वाले के होंठों पर यदि डाल दी जाये तो उसकी आत्मा दूसरी दुनिया में सुरक्षित यात्रा कर सकेगी। मेरी पिछली भारत यात्रा के बाद से मेरे माता-पिता और दो बड़े भाइयों का स्वर्गवास हो चुका है। मुझे लगता है कि उन लोगों के लिए भी मुझे यह तीर्थ यात्रा करनी चाहिए। मेरे अपने व्यक्तिगत शक और संदेह जो भी हों, परंतु ऐसा करना परिवार के सबसे बड़े लड़के के लिए ठीक माना जाता है।

इस बार हम अपने बच्चों के साथ यात्रा कर रहे हैं। 21 और 15 साल की उम्र में योगी और नीरज अपनी खुद की खोज यात्रा करेंगे। शुरू-शुरू में वे संकोची

थे और हिचकिचा रहे थे। शायद नहीं जानते कि उनकी अपेक्षा क्या है? पर वे खुले दिमाग़ से चलने के लिए दृढ़ निश्चयी हैं। मैं उनके सूझबूझ से भरे व्यवहार से आश्चर्यचकित हूं। वे जो कुछ देखते हैं, उससे सम्मोहित होते हैं। वे भारत की अत्यधिक गरीबी, धूल और शोर के परे, भारत जैसा है, उसकी सत्यता वैसे ही स्वीकारते हैं यानी एक विपरीतार्थक तत्वों की भूलभुलैया। फिर भी कुछ बातें उनके मूल्यों के एहसास को ठेस पहुंचाती हैं। उनमें से एक, औरतों का समाज में निम्न स्थान है। अन्य और भी बातें हैं—जाति प्रथा का चलन और सामाजिक ऊंच-नीच, समाज में फैली धार्मिक कट्टरता, तेज़ औद्योगीकरण के कारण बिगड़ते वातावरण की तरफ बेरुखी, नागरिक कर्तव्यों की तरफ जागरूक न होना, सार्वजनिक स्थलों में फैला प्रदूषण और व्यक्तिगत रूप में सफ़ाई पर अत्यधिक ज़ोर परंतु सार्वजनिक रूप से सफ़ाई और स्वच्छता के प्रति उदासीनता। वे इन सब बातों से आश्चर्यचकित होते हैं, कभी-कभी क्रोधित भी हो उठते हैं परंतु व्यवस्थाओं पर कभी अपना निर्णय नहीं सुनाते। हंसते हुए सिर्फ कहते हैं 'यह भारत है।' एक अलग संस्कृति जिसकी मोटी-मोटी बातों को वे पहचानते हैं पर जिसका वे हिस्सा नहीं हैं।

योगी और नीरज, गुफाओं, इमारतों, चित्रकला, किलों, महलों और मंदिरों और चारों तरफ़ फैली अतीत की धरोहरों से बहुत प्रभावित हैं। वे आधुनिक इलैक्ट्रानिक युग के बच्चे हैं और मक़बरे आदि देखकर बहुत प्रभावित हो जाते हैं। वे महाराष्ट्र में अहमदनगर में बने 'चांदबीबी के मक़बरे' से अत्यधिक प्रभावित हुए। वह मक़बरा, एक पहाड़ी पर, शांत, एकाकी और अलग-थलग खड़ा है। उसमें हरे और लाल कपड़े से ढके सम्राट की पत्नी और उनके जवान बच्चों की कब्रें हैं। क्या रोमांच! क्या शौर्य! उन्होंने फ़तेहपुर सीकरी भी देखा जो एक निर्जन प्राचीन नगर है जहां कुछ साल बाद पानी खत्म हो गया था और लोग उसे छोड़कर चले गए थे और जिसकी इमारतों में अब कबूतर वास करते हैं। और ताजमहल भी। उन्होंने अपने स्कूल में इस प्राचीन सभ्यता के स्थापित्य कला की उपलब्धियों के बारे में क्यों नहीं पढ़ा? वे पूछते हैं हमारी आज की सभ्यता भविष्य के लिए क्या धरोहर छोड़ेगी?

हम बहराईच की यात्रा पर हैं, जहां से मेरे गिरमिटिया बाबा, इस शताब्दी की शुरूआत में, फीजी गए थे। आज भी यह क्षेत्र पिछड़ा हुआ है—एक ऐसे प्रदेश में है जो आज भी अपने आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन के लिए जाना जाता है—वह प्रदेश जो भारत की प्रगति में रुकावट का प्रतीक है। जातीय राजनीति प्रबल है। सड़कों के किनारे बड़े-बड़े बोर्ड लगे हैं जिनमें विभिन्न जातियों और उपजातियों के सम्मेलनों की तिथियों की सूचनाएं हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय और अन्य ऊंची जाति वाले लोग सरकार पर तोहमत लगाते हैं कि वह बहुसंख्यक नीची जाति वालों का अधिक ख़्याल रखती है। वे अपने सांस्कृतिक नायकों के लिए स्मारक बनवाना चाहते हैं। लोग कहते हैं उत्तर प्रदेश ख़राब है पर बिहार तो बदतर है। अराजकता और

अपराधिता का प्रतीक। उत्तर प्रदेश के लोगों को थोड़ा सन्तोष है कि भारत के सामाजिक और राजनैतिक गर्त की बिल्कुल निचली सतह पर वे नहीं हैं।

हम, राज्य के पूर्वी क्षेत्र में, किराये पर ली गई कार में यात्रा पर हैं। ऐसी सुविधा का खर्च मैं बीस साल पहले नहीं उठा सका था। कुछ धुंध से ढके, उपजाऊ मैदान, सरसों के फूलों से दूर तक पीले दिखाई दे रहे थे। आमों के बाग अब भी हैं। अब भी बहुत आलस व्याप्त है। लोग खड़े हैं, चाय पी रहे हैं, अपने को गरमाहट देने के लिए छोटे-छोटे अलाव जला रहे हैं। स्फूर्ति, संकल्प और आगे बढ़ने का एहसास, जो महाराष्ट्र और हरियाणा में साफ़ ज़ाहिर होता है, यहां नज़र नहीं आता। पर कुछ प्रगति हुई है। छोटे उद्योग विशेष तौर पर ईंटों के भट्टे राजपथ के किनारे दिखाई दिए।

बहराईच के हमारे गांव में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं आया है, सिवाय इसके कि कुछ झोपड़ियों की छतों से टेलीविज़न के एन्टीना निकलते हुए दिखाई देते हैं। गांव तक जाती कच्ची सड़क अभी भी ताजे गोबर और भूसे से भरी थी। बच्चे अब भी नंगे बदन और नंगे पैर दौड़ रहे थे। ठंड से बचने के लिए अब भी लोग अपने तन को गुदड़ों से ही ढके थे। कुछ को मौसमी काम पंजाब जैसे दूर स्थानों पर मिल गया है। वे नये दृष्टिकोण और शैली लेकर वापस आए हैं, पर अगर उनका बस चले तो वे हमेशा के लिए यहां से चले जाएं। वे सब बूढ़े लोग, जिन्होंने पहले बड़ी उदारता से मेरा स्वागत किया था, अब चले गए हैं—छोटू काका भी। उनकी कमी बड़ी दुखदायी है और मुझे उन सबकी याद हो आयी जो इन दो दशकों में चले गए थे, जिनमें मेरे परिवार के सदस्य भी शामिल हैं। युवा पीढ़ी से तालमेल बैठाना मेरे लिए मुश्किल साबित हो रहा है। मैं उनके बीच एक अजनबी हूं। आपस में बात करने के लिए हमारे पास कुछ नहीं है सिवाय मौसम और फसलों के बारे में। मेरे आस-पास के दृश्य से मुझे थोड़ी शर्मिंदगी महसूस होती है। लोगों का अपने ऊपर तरस खाना मुझे बुरा लगता है—कोई कुछ दे दे या कुछ चमत्कार हो जाये—वे इसी की आशा लगाये बैठे हैं। हम, जो गिरमिटियों के वंशज हैं, आगे बढ़ गए हैं, पर ये लोग, जो हमारे वंशज भाई हैं, एक ही जगह पर रह गए हैं। निर्धनता और निर्जनता के दलदल में फंसे हुए हैं। इतने अवसर हैं, इतनी सामर्थ्य है पर सफलता नगण्य है।

मेरे बच्चे विभिन्न आवाज़ों, गंधों और दृश्यों के बहुमूर्तिदर्शी को देखकर बहुत प्रभावित होते हैं, पर उनके लिए मूलतः यह जगह अन्जान है, लोग भी अन्जान हैं। वे बहुत ज़ोर देकर कहते हैं कि उनके परिवार की वंशावली फीजी में शुरू होती है, इस गांव में नहीं। फिर भी इस यात्रा से वे खुश हैं। यद्यपि किस्मत को बार-बार धन्यवाद देते हैं, जिसने उनके परबाबा को यहां से जाने के लिए मजबूर किया। मैं उनकी भावनाओं से सहमत हूं। गांव के लोगों को मैं गले लगाता हूं और एक

टिन के प्याले में लाल, शीरा जैसी चाय पीने के बाद हम चलने की तैयारी करते हैं। मैं जानता हूं कि यह मेरा आखिरी मिलन है। मेरे इर्दगिर्द एकत्रित लोगों को यह बताना बहुत कठिन है पर मुझे पता है कि अब मैं अपने बाबा के गांव कभी नहीं लौटूंगा। संबंध पूरी तरह से टूट चुका है।

बीस साल पहले मेरी भारत यात्रा का केंद्रबिंदु बहराईच था। इस बार गंगा है। जाड़ों में बनारस ठंडा रहता है, कोहरे की मोटी चादर में ढका था जिससे यातायात अस्त-व्यस्त था और हवाई उड़ानें भी टल रही थीं। हमारा टैक्सी चालक हमें बहुत गर्व से बताता है कि बनारस दुनिया का सबसे पुराना अविच्छिन्न शहर है—चिरंजीवी और सदाबहार। उसकी पतली, ठसाठस भरी हुई गलियों की दीवारों पर चुनावों के पोस्टरों और विज्ञापनों की भरमार है। आधुनिक दवाइयों के विज्ञापनों से लेकर नपुंसकता के हर्बल उपचार के विज्ञापनों तक—सब वहां देखे जा सकते हैं। छोटे-छोटे मंदिरों और पूजा संबंधी चीज़ों को बेचने वाली छोटी छोटी दुकानों से शहर भरा है। पवित्र और धर्मनिरपेक्ष, गूढ़ और सांसारिक, आशा और निराशा, सब इस पवित्र हिंदुत्व के पालने में दृष्टिगोचर होते हैं।

मंदिरों को देखकर बहुत निराशा हुई। वे शांत प्रार्थना, एकान्त और आध्यात्मिक सहभागिता के केंद्र नहीं हैं। वे व्यस्त मछली बाज़ारों की तरह अधिक प्रतीत होते हैं। यहां धर्म मुख्य व्यवसाय है और सब जगह दलाल हैं। हम में कुछ ऐसी बात है जो हमारे विदेशी होने का परिचय दे रही है—चाहे वह हमारा पहनावा हो या हमारी चाल, हमारे मंहगे दिखते जूते हों, हमारे बैकपैक, या जिस तरह की हिंदी में हम रास्ता पूछते हैं। पर सबसे खराब तो वहां के पंडे होते हैं जो भोले-भाले लोगों को लूटते हैं। वे परेशान करते हैं, विभिन्न दिशाओं में आपको खींचकर अपने ही मंदिर की ओर ले जाते हैं ताकि आपको प्रभु का आशीर्वाद मिल सके।

हम जल्दी उठते हैं और प्रतीक्षा कर रही टैक्सी में बैठकर दशाश्वमेध घाट, जो बनारस का मुख्य घाट है और पूजा-अर्चना और नहाने का मुख्य स्थल है, की ओर चलते हैं। तंग, कोहरे से ढकी गलियों से होकर टैक्सी हॉर्न बजाती जाती है और मवेशी, रिक्शे और लोग जो नदी की तरफ जा रहे थे, उनको पीछे छोड़ती चलती है। गोविंद ने, जो हमारा चालक भी है और गाइड भी, पहले ही से एक नाव वाले के साथ हमें नदी पार ले जाने के लिए तय कर रखा है। जैसे ही हम कार से उतरते हैं दलाली शुरू हो जाती है पर लगातार बढ़ती भीड़ के बीच से हमको नदी के किनारे ले जाया जाता है। सुबह की पहली धुंधली किरणों से पानी मटमैला स्लेटी रंग का प्रतीत होता है, मिट्टी कीचड़ जैसी है जिसमें सड़े हुए गेंदे के फूल भरे हैं। अभी से लोग, श्रद्धालु हिंदू और पर्यटक, किराये की नावों पर कैमरा और मोमबत्तियां हाथों में लिए निकल रहे हैं। चारों तरफ बहुत अस्तव्यस्तता और शोर है। नाव वाला, एक बुज़ुर्ग आदमी है जिसने धोती और ढीला कुर्ता पहन रखा है और एक गंदा

सफेद–भूरा शॉल लपेटे है। वह पूजा के लिए आवश्यक सामग्री खरीदता है। हम उसका इंतज़ार करते हैं। इसके बाद नदी में हमारी यात्रा प्रारम्भ होती है।

कुछ देर बाद ही नाव वाले ने नाव रोककर एक पंडे को बिठाया। इसकी बात नहीं हुई थी, न ही हमें इसके बारे में कुछ पहले से बताया गया था। मैं पूछता हूं पर नाव वाला ज़िद पर अड़ा है–बिना पंडे के कोई पूजा नहीं हो सकती और हमारे लिए वह खासतौर पर सबसे बढ़िया पंडा लाया है। बहस से कोई फायदा नहीं था–जो होना है वह होना है। पंडा बड़ी आयु का आदमी था और उसके माथे पर पवित्र चंदन लगा था। वह भी पसीने की बदबू से भरे कपड़े पहने है जो शायद कई दिनों या हफ्तों से धुले नहीं हैं। उसके मुंह के चारों तरफ सफ़ेद-पीली उलझी दाढ़ी और सुतली जैसी मूंछें हैं। उसका मुंह पान से लाल है, और उसके दांत सालों से तंबाकू खाने के कारण काले हैं। मैं उसे, अपने जीवन के बहुत ही व्यक्तिगत, भावुक और आध्यात्मिक क्षण में, एक घुसपैठिये के रूप में देखता हूं, और इसलिए उससे कुछ नहीं बोलता। अपनी आंखों के कोरों से वह पंडा मुझे देखता है और मेरी औकात और अस्तित्व को आंकने की कोशिश करता है। वह बात करने के लिए उत्सुक है। हम, दूसरे घाट की तरफ, जहां हम डुबकी लगाएंगे, चल पड़ते हैं। तब वह मुझसे हिंदी में पूछता है कि मैं कहां से आया हूं। दक्षिण से? वह दक्षिणी भारत का अंदाज़ मेरे काले रंग से लगाता है। मैं हामी में सिर हिलाता हूं जिसे देख कर मेरे बच्चे मुस्कुराते हैं क्योंकि उन्होंने मुझे यह खेल खेलते कई बार देखा है। पर और दलालों की तरह वह भी समझ जाता है कि मैं विदेश से आया हूं। वह अपनी उत्सुकता को नहीं दबा पाया और उसने पूछा कि कुछ अरसे से क्या मैं विदेश में रह रहा था। हां। यूरोप में, लिवरपूल में, मैं कहता हूं। वह प्रशंसा में सिर हिलाता है। वह मुझे बताता है कि उसे शुरू से ही शक था कि मैं इंग्लैण्ड से आया हूं। मैंने उससे कैसे, क्यों, नहीं पूछा। मैं कभी-कभी सोचता हूं कि अगर मैं उसे बताता कि मैं ऑस्ट्रेलिया से आया हूं तब वह क्या कहता?

कोहरा अभी भी घना है। हमारी नाव, अन्य नावों और लोगों, जो किनारों पर पानी में पैर चला रहे हैं, को पीछे छोड़ती हुई आगे बढ़ती है। नीरज को रास्ते में कुछ गायों के सड़ते हुए शरीर पानी में दिखे। वह उन्हें योगी को दिखाता है जो जल्दी से अपना चेहरा शॉल से ढककर दूसरी तरफ देखने लगती है। कुछ सौ मीटर आगे जाकर उसी पानी में गोता लगाने के विचार से दोनों सिहर उठते हैं। हवा में अगरबत्ती की खुशबू फैलती है। हम, कई लोगों को ध्यान में, बिना हिले-डुले, बैठे हुए देखते हैं। पंडा आगे बढ़कर, बुदबुदाते हुए, हमें होने वाले अनुष्ठान के महत्व के बारे में समझाता है। वह कहता है कि अनुष्ठान ठीक प्रकार से होना चाहिए नहीं तो मरे हुए लोगों की आत्मा को शांति नहीं मिलेगी। और विशेषतौर पर जब मैं इतनी दूर से आया हूं तब तो मुझे सभी रीति-रिवाज़ों के अनुसार ही पूजा करनी

चाहिए। मैंने कुछ नहीं कहा।

जब हम अपने नहाने वाले घाट पर उतरते हैं, तब पंडा और नाववाला उतर कर सीढ़ी के रास्ते ऊपर जाते हैं। कुछ लोगों ने अपने को ठंड से बचाने के लिए अलाव जला रखा है, और पास में ही एक चाय वाला भी है। अब तक योगी और नीरज ने खुदबखुद निश्चय कर लिया था कि वे डुबकी ज़रूर लगाएंगे। उनका इरादा पक्का है; इतनी दूर आकर वह वही करना पसंद करेंगे जो ठीक है। योगी मेरे नहाने के कपड़ों पर लिखे शब्दों को देखकर ज़ोर से हंस पड़ती है—'मैं बॉस हूं'। बिल्कुल डैड की तरह, वह कहती है, जहां भी जाएं बॉस बनना चाहते हैं। धंसती हुई कीचड़ जैसी मिट्टी में चलकर, मैं और नीरज पहले जाते हैं। कुछ मीटर चलकर, हम अपनी नाक को अंगूठे और तर्जनी से पकड़ कर डुबकी लगाते हैं। मेरा शरीर ठंड से सुन्न-सा पड़ गया है और मेरा मस्तिष्क होने वाली प्रक्रिया में पूरी तरह से रत है। कुछ क्षणों तक और डुबकियां लगाकर हम नाव में वापस आ जाते हैं। फिर पदमा और योगी पानी में जाते हैं। हम अपने सूखे कपड़े पहन लेते हैं और सीढ़ियों के ऊपर जल रहे अलाव की तरफ बढ़ते हैं। 15 मिनट के बाद पदमा और योगी भी आ जाते हैं और फिर हम पंडे और नाव वाले के साथ वापस नाव की तरफ चलते हैं। पंडा पूजा कराता है। शुरूआत में संस्कृत की कुछ प्रार्थना के बाद, जो मुझे समझ में नहीं आई, वह मेरे दिवंगत माता-पिता का नाम पूछता है। वह उन्हें दोहराता है और हमसे हर नाम के बोले जाने पर कुछ पूजा सामग्री को अग्नि में डालने के लिए कहता है। हम उसके निर्देशों का पालन करते हैं जैसा कि ऐसे मौकों पर अधिकतर लोग करते हैं, चाहे उन्हें अपनी करनी समझ में आए चाहे न आए। शुरूआत में मुझे कुछ संकोच महसूस हुआ जब पर्यटकों की नावें हमारे पास से गुज़रीं और उन्होंने हमें देखा और कैमरे से फोटो लीं। पर जल्दी ही मैं अनुष्ठान क्रिया में व्यस्त हो गया, और बाह्य गतिविधियों से बिल्कुल विमुख हो गया। कोहरे में हवा गतिहीन थी और उसमें अग्नि की छोटी-सी पीली लपट सुध-बुध भुला देने वाली थी। एक जाना-पहचाना परंतु अब लुप्त संसार का चित्र मेरे मस्तिष्क में कौंध जाता है। मुझे अपने ताविया के बांस के बने घर की दीवारों पर टंगीं कई देवी-देवताओं की तस्वीरें याद आती हैं जिनके साथ महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, और मेरे बचपन के समय के फिल्मी सितारों की भी तस्वीरें टंगी थीं। मुझे याद आता है कि किस प्रकार आए दिन घर पर कथा या पूजा होती रहती थी। पूजा के लिए हमारे माता-पिता के अपने कारण होते थे, पर हम बच्चों को तो उस लंबी पूजा के अंत का इंतजार रहता था जब हमें पूजा का फल और खाना प्राप्त होता था। धार्मिक ग्रन्थों में छुपे हुए ज्ञान और पवित्र बातों की तरफ हम ध्यान ही नहीं देते थे। संस्कृत के मंत्र, जो पुजारी बड़ी श्रद्धा और ज़ोर-शोर से पढ़ते थे, हमारे लिए कोई मायने नहीं रखते थे।

आग की लो ने मुझे अन्य बुरी लपटों की याद दिला दी, जो मैंने पहले देखी थीं—वे लपटें जो मेरे परिवार की चिताओं की थीं—मेरे माता-पिता की और मेरे दो बड़े भाइयों की। उनमें से एक का देहान्त तो इस यात्रा के कुछ दिन पहले ही हुआ था। मेरे मस्तिष्क में, हर एक चिता का जलना स्पष्ट रूप से अंकित था। मुझे याद था, मौत की खबर का दुःख, हर मौके पर जो रीति-रिवाज़ हमने किए, शोक और दुःख जो उन मौतों से हमें हुआ, और किस तरह हर एक चिता जलाई गई। हर मौत मेरे लिए एक नयी हानि थी और ऐसे लोगों के लिए थे, ये अनुष्ठान करना, जो मेरे नजदीकी के बहुत सम्मान की बात थी।

करीब बीस मिनट के बाद पंडा रुका और मुझसे दान देने के लिए कहने लगा। ऐसे अनुष्ठानों में दान देने की प्रथा है, परंतु अधिकतर यह दान अनुष्टान समाप्त होने के पश्चात् ही किया जाता है। मैं असमंजस में पड़ गया। कैसा दान और कितना? अब यह तो आप पर निर्भर करता है, वह बोला। लोगों ने उसे 50,000/- रुपये और उससे अधिक भी दिया है। कइयों ने तो उसे घर और अन्य ज़ायदादें भी दी हैं। इस बात पर मुझे विश्वास नहीं हुआ। यह बदबूदार, गंदे कपड़ों में लिपटा आदमी लखपती नहीं हो सकता, जैसा कि वह कह रहा है। मैं किसी प्रकार से इतना दान देने के लिए सक्षम नहीं था। उसने मेरी तरफ देखा तो हमने मोलतोल शुरू की—25,000/-; 15,000/-; 10,000/-। मैंने पदमा की तरफ देखा जो ऐसी परिस्थिति में अपने को पाकर बहुत क्रोधित हो रही थी। उसने महसूस किया कि यह पंडा और नाववाले के बीच एक बड़ी चाल थी। उसने 101 रुपये दान देने की बात कही। पंडा ने एक छोटी-सी तिरस्कृत हंसी के साथ कहा कि बहन जी आप मज़ाक कर रही हैं। इतने कम रुपये में आजकल क्या आता है? पर यह राशि पहले क्यों नहीं बतायी गई? ऐसे पवित्र अनुष्ठानों में पहले से इन सब बातों के बारे में बात करना अच्छा नहीं होता है, पंडा बोला। हो सकता है अच्छा न हो, पर अब अनुष्ठान के बीच में उसकी मेरे ऊपर पकड़ अनुष्ठान से पहले के मुकाबले अधिक सशक्त थी। उसकी तरह के ज्ञानी पंडे कम मिलते हैं और बहुत मंहगे भी, वह बोला। वह तो बहुत कम मांग रहा है। जब पदमा ने देने से मना किया तब पंडे ने उसे चुप रहने के लिए कहा; निर्णय मैं लूं मैं परिवार का बड़ा था और मैं अपने माता-पिता के लिए पूजा करा रहा था। यह सच नहीं था पर उसने मुझे हिचकिचाते देख, पकड़ लिया था।

मुझे अनुष्ठान के बीच में, जिसे पूरा करने के लिए मैं इतनी दूर से यात्रा करके आया था, इस तरह से बहस करना बहुत बेढंगा लग रहा था। मैंने 1,001/- रुपये की बात करी। यह राशि ठीक-ठाक प्रतीत हुई। पंडे ने तुरंत सिर हिलाकर इस राशि के लिए हामी भर दी। उसकी आंखों से मैं जान गया कि उसे एक अच्छा सौदा पटाने का एहसास हो रहा है : आधे घंटे के काम के लिए एक हजार रुपये

और अभी तो दिन शुरू हो रहा था। मैं उसे 500/-रुपये तुरंत देने लगता हूं, पर वह कहता है कि वह पूरा पैसा होटल आकर बाद में ले लेगा। उसे डर था कि शायद बाकी के 500/- उसे फिर न मिलें। फिर वह अनुष्ठान पूरा करने में लग जाता है पर मैं अनमना-सा हो जाता हूं और मैं अनुष्ठान क्रिया पर ध्यान नहीं देता। मुझे पता था कि मेरा परिवार नाखुश है, शायद क्रोधित भी; पिछले हफ्तों में कई बार उन्हें फंसाने की कोशिशें की गई थीं और उनका धीरज अब छूट रहा था। पर मैं और कुछ नहीं कर सकता था।

जब हम वापस नदी के किनारे की तरफ चले तब पंडे का व्यवहार बहुत मधुर और प्रेमयुक्त हो गया। वह धीरे-धीरे दान के महत्व को समझाता रहा। दान का महत्व तभी है जब वह निर्मल और अच्छे दिल से दिया जाय, अनिच्छा से दिया गया दान अच्छा नहीं होता, उसने पदमा की तरफ़ तिरछी नज़र डालते हुए कहा। योगी इस घटना से अभी भी क्रोधित थी और उसने जानबूझ कर मुंह फेर लिया। गुप्तदान के बारे में किसी को बताना नहीं चाहिए। अर्थात, मुझे किसी को यह नहीं बताना है कि मैंने उसे कितने रुपये देने का वायदा किया है। मैंने कुछ नहीं कहा जिसको उसने मेरी रज़ामंदी समझा।

वापस कार में पहुंचने के बाद रास्ते में, मैं गोविंद पर बहुत गुस्सा हुआ। मैंने उस पर तोहमत लगाई कि हम सबको बेवकूफ बनाने की इस चाल में वह भी शामिल था, परंतु उसने कहा कि वह इसके बारे में कुछ नहीं जानता था। हमने उसकी बात का विश्वास किया। उसने हमें बताया, वास्तव में उसने नाव वाले से हमें सीधे घाट ले जाने के लिए कहा था और पंडे की कोई बात ही नहीं की थी, गुस्से में उसने कहा कि ऐसे लोगों ने बनारस को बदनाम कर दिया है। हमारे क्रोध ने गोविंद के अन्तर को कहीं छू लिया था। उसने बताया कि जो पंडा हमारे साथ गया था वह बिल्कुल बेकार आदमी था, चरसी था, एक चूहा था। दिन भर नशे में धुत रहकर वह रोज़ सुबह गंगा में स्नान करके अपने प्रतिदिन के पाप धोता था और फिर किसी भोले-भाले आदमी को पकड़ता ताकि उसको बुरी आदतों के लिए खर्चा निकाला जा सके। यहां इसी तरह चलता है। मैंने कुछ नहीं कहा। होटल में मैंने इस घटना की जानकारी मैनेजर को दी जिसे मैंने कुछ हद तक इस हादसे के लिए ज़िम्मेदार ठहराया। गोविंद होटल का ही ड्राइवर था। मैनेजर, ओ.पी. खन्ना, हमारी शिकायतें सुनता रहा। मुझे लग रहा था कि जैसे मेरा प्रयोग किया गया है, मुझे फंसाया गया है, मुझे आतंकित किया गया है। मैंने निश्चय कर लिया था। मैं पंडे को वही दूंगा जो पदमा ने कहा था, उससे अधिक कुछ नहीं—101/- रुपये। खन्ना ने हामी में सिर हिलाया और दरवाज़े पर बैठे लड़के से उस पंडे को बुलाने के लिए कहा। वह शीशे के दरवाज़े से हिचकिचाता हुआ अंदर आया। उसे शक हो गया था कि उसकी चाल नाकाम हो गई है।

खन्ना ने तेज़, तोहमत लगाने वाले स्वर में पूछा, 'कितना चाहिये पंडे जी?' 'पचास हजार रुपये?' 'साहब की मर्ज़ी', वह बोला। मैं उसे 50,000/- या 500,000/- कुछ भी दे सकता हूं। उसने मेरी तरफ देखा। मैं घृणा से भर गया। मुझे गेरुए वस्त्र धारण किए हुए लोगों से धोखे की उम्मीद नहीं थी। 'अच्छा'! खन्ना बोला और उसका चेहरा क्रोध से लाल हो गया। 'लो यह 101/- लो और निकल जाओ। जल्दी।' दरवाज़े की तरफ इशारा करके क्रोध से कांपते हुए उसने कहा 'बाहर निकलो नहीं तो अंदर करवा दूंगा।' उसका मतलब कारावास से था। ये गिद्ध, सब हमारी बदनामी कराते हैं। उसने यह बात किसी व्यक्ति विशेष से नहीं कही और अपने कागज़ात फिर से देखने लगा। जब हम बाहर आए, गोविंद, जो दूर सुरक्षित जगह से यह सब कुछ देख रहा था, खूब ज़ोर से हंसा। 'साहब, आपने उनको खूब बेवकूफ़ बनाया।' वह इस बात से खुश था कि एक बार ही सही, पर पंडे के अतिरिक्त, जीत किसी और की हुई थी।

समकालीन भारत, पंडा, टैक्सी चालक, रिक्शेवालों, पर्यटक स्थलों पर गाइड, छोटी-मोटी चीज़ों को बेचने वाले, छोटे रास्ते को अपनाने वाले लोगों से भरा है, जो लोगों को चूसते हैं ताकि कम से कम समय में अधिक से अधिक कमा सकें। आधुनिक लोकप्रिय सभ्यता, अमेरिकी टेलीविज़न ड्रामों की निम्न नक़्लें, पर्दे पर आक्रमण कर रही हैं। शायद, दूसरा आदर्शवादी भारत, जो मेरी युवावस्था और कल्पना का भारत है, कहीं पृष्ठभूमि में क्षीण पड़ा है। बीस साल पहले के मुक़ाबले में, आज मैं अपने को यहां अधिक अजनबी महसूस कर रहा हूं।

इस यात्रा की सबसे चिरस्थायी याद मेरी गंगा यात्रा है—छोटे से मिट्टी के बरतन में मुझसे दूर जाती वह छोटी-सी टिमटिमाती लौ, जो धीरे-धीरे कोहरे ने निगल ली और फिर औरों के साथ मिलकर नदी की यात्रा करती हुई खुले समुद्र में समा गई। शायद यह जीवन का ही रूपक है। यही, मेरे बाबा की जन्मभूमि के प्रति मेरी भावनाओं का समाहार भी है। गंगा पर कोई सूर्योदय हुआ ही नहीं।

जड़ें और रास्ते, पुनः

वृक्ष स्थिर नही रहते,
जड़ों के साथ चलते हैं,
और जड़ें वहीं जाती हैं, जहां जल हो।

प्रेम माथुर
(हिंदी रूपांतर)

अब मेरा घर ऑस्ट्रेलिया है। यहीं मैं रहता और काम करता हूं और यहीं मैं अपने जीवन के शेष दिन बिताऊंगा। ऑस्ट्रेलिया, मेरे लिए, एक सत्कारशील घर साबित हुआ है, जैसा कि अन्य प्रवासियों के लिए। उसने मेरी योग्यताओं को बढ़ावा दिया है, और मेरी आत्मा को पोषण। उसने मुझे एक सुरक्षित जीनिका भी दी है। मैं उसके प्रति, मन में गहराता हुआ प्रेम और एहसान, महसूस करता हूं, यद्यपि मुझे अपने हृदय में यह बोध है कि मैं उसे कभी पूरी तरह से नहीं पा सकता, उस पर अपना अधिकार नहीं समझ सकता, जैसा कि मैं फीजी के प्रति महसूस करता हूं। फीजी –जिसके साथ कितना ही कष्टदायी संबंध क्यों न रहा हो। मैं वहां पैदा हुआ था। केवल यही बात है। वह संबंध, वह नाल, कभी काटी नहीं जा सकती। साये गहराते जाते हैं और प्रियजन बिछुड़ते जाते हैं, क्रूर प्रतियोगी संसार में, जीवनयापन के दबाव जब आत्मा को क्षति पहुंचाते हैं तब बचपन के भोले-भाले, खुशी भरे, सरल समय की यादें, तीव्र हो जाती हैं। शायद, सभी प्रवासियों की तरह मैं भी द्वैधवृत्ति का हूं, मध्यस्थ संसार में, न इधर, न उधर, पर सर्वत्र एक साथ। कुछ-कुछ धोबी के गधे की तरह–न घर का, न घाट का।

1977 में, स्नातकोत्तर छात्र के रूप में, मैं, पहली बार ऑस्ट्रेलिया आया था। 1990 में, मैं, यहां स्थायी रूप से रहने के लिए वापस आया। विदेश में रहना मेरे लिए कोई नई बात नहीं थी : इससे पहले भी, दो वर्षों के लिए, मैं, कनाडा में रह चुका था और मुझे ऑस्ट्रेलिया के बारे में भी थोड़ी बहुत जानकारी थी। पहला श्वेत व्यक्ति, जिससे मैं मिला था, वह कोलोनियल शुगर रिफाइनिंग कंपनी का एक ऑस्ट्रेलियन ओवरसियर था। हम उसे मिस्टर टॉम पुकारते थे। वह, एक लंबा, पतला

इन्सान था। सफ़ेद शर्ट और नेकर पहने, उसके सीने की जेब एक नोटबुक से भरी रहती जिसका काफी प्रयोग हुआ जान पड़ता था और साथ ही रंगबिरंगे कलम भी उस जेब में भरे रहते। तेज़ी और सफ़ाई से, वह, एक ऐसी भाषा में आदेश देता जो हमारे समझ के परे तो थी, परंतु मन ही मन हम जिसकी प्रशंसा करते (हम उस भाषा को गिटपिट, गिटपिट कहते थे)। फीजी में हमारे पहुंचने का पहला कारण यह कंपनी ही थी। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं कि प्राथमिक और सेकन्डरी स्कूलों में हमने ऑस्ट्रेलियन इतिहास, भूगोल और साहित्य के बारे में थोड़ा बहुत ज्ञान अर्जित किया था। फिर भी ऑस्ट्रेलिया हमारे लिए एक दूरस्थ देश बना रहा, हमारी कल्पना शक्ति से परे। ऑस्ट्रेलिया वह जगह थी जहां से वे सब वस्तुएं आती थीं जिनकी हम सदैव तारीफ़ करते थे—होल्डेन कार, डिब्बाबंद फल, बोतल में बंद जैम, और साफ़-सफ़ेद शुद्ध चीनी—इतनी साफ़ कि वह घर में पूजा-अर्चना में प्रयोग में लाई जाती। स्वप्न में भी कोई सोच नहीं सकता था, कि एक दिन, हम मिस्टर टॉम के देश में जाकर कभी रह भी सकते हैं। हम कितने ग़लत थे।

भीगे द्वीप से एक सूखे महाद्वीप में परिवर्तन, कठिनाइयों से परिपूर्ण था और समय बीतने के बाद, आज भी है। परिदृश्य का उदाहरण लीजिए। ऑस्ट्रेलिया में आए सभी प्रवासी यह मानते हैं कि ऑस्ट्रेलिया अन्य स्थानों, जिनसे उनका पहले परिचय हुआ है, से बिल्कुल भिन्न है—अनन्त दूरियां, सूखापन, इयक्लिप्टस वृक्षों की अनुपम सुगध। यह चीज़ आपको कभी नहीं छोड़ती ; वे सदैव आपके साथ रहती हैं, चाहे आप जो भी करें, चाहे आप कहीं भी जाएं। मैंने कार से, उत्तर में, केप ट्रिब्यूलेशन से दक्षिण में पोर्ट फिलिप तक, और कैनबेरा से एडीलेड तक, यात्रा की है। लाल सपाट मैदान, दूरी पर, रेगिस्तान की झाड़ियों में मिलते नज़र आते हैं। दूरस्थ, ग्रामीण, एकल मार्ग वाले शहर, जो नक्शे की निश्चितता से भी परे थे—परे के भी परे थे, उनसे होकर भी मैं गया। रास्ते में जंग खाई गाड़ियां दिखीं जो लोगों ने वहीं छोड़ दी थीं और मरे हुए जानवरों के सड़ते हुए शव। मैंने यह जानबूझ कर किया ताकि मुझे इस जगह का कुछ एहसास हो और उसकी प्राकृतिक लय और जीवन पद्धति की एक झलक प्राप्त हो। मैंने अपने बाग़ में विभिन्न प्रकार के देशी वृक्ष लगा रखे हैं और मैंने उनकी मनःस्थिति और प्रकृति के बारे में भी जान लिया है। मुझे पता है कि जब पहला ऐंगेपैन्थस फूलता है तब वह ग्रीष्म ऋतु के आगमन का सूचक होता है (और तभी पहली क्रिकेट बॉल भी फेंकी जाती है)। मैं समझता हूं कि किसी भी देश के बारे में जानने से पहले उसके प्राकृतिक पहलुओं को जानना आवश्यक है। परंतु, मैं निश्चित तौर पर यह नहीं कह सकता कि कई प्रवासी जो नगरों के परिसर में रहते हैं, अपने नये देश को जानने का इतना प्रयास करते हैं।

नये देश में प्रवेश करना, नये प्राकृतिक क्षेत्र में प्रवेश करने जैसा है। साथ ही, उसके इतिहास में प्रवेश, वर्तमान और अतीत के बीच शक्तिशाली कड़ियों की

समझ, उन चीज़ों की समझ जो उस देश को जीवन देती हैं—भी आवश्यक है। मैं विश्वास नहीं कर सकता कि हम प्रवासी यह सब पर्याप्त रूप से करते हैं। कुछ लोग, अपने वैचारिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण, इस तरफ ध्यान नहीं देते। कुछ लोग, नये वातावरण में बहुत कुछ पाने की चाहत रखते हैं और अतीत को पीछे नहीं लादना चाहते। दूसरों का भार, अपने ऊपर क्यों लादा जाये? अन्य लोग, नई स्लेट पर शुरुआत करना चाहते हैं। अतः, समन्वय पर एक तीव्र चर्चा,—मबो, विक्टर चेंदो के बारे में, ऑस्ट्रेलिया द्वारा शरणार्थियों के प्रति व्यवहार और उसके 'फ़ैसिल समाधान'—उनके लिए निराकार, दूरस्थ प्रस्ताव हैं—तत्कालीन चिन्ता के गहन विषय नहीं। परिणामस्वरूप, प्रवासी हर बात के बाहरी किनारों पर ही रहते हैं—निष्क्रिय उपभोक्ताओं के समान, सार्वजनिक प्रवचनों में क्रियाशील संभागियों की तरह नहीं।

मैं उस विलासिता का सुख नहीं उठा पाता। ऑस्ट्रेलिया में बुद्धिजीवी होकर उसके इतिहास से अन्जान नहीं रहा जा सकता, विशेषकर जबकि मैं कैनबेरा में रहता हूं और मेरे पड़ोसी सहकर्मी वे लोग हैं जिन्होंने जिस ऑस्ट्रेलिया को हम आज जानते हैं, उसे बनाने में बहुत योगदान दिया है : केन इंग्लिस, बिल गैमेज, हैन्क नेल्सन, बॉब मेन्ज़ीस, इऐन हैन्कॉक। इसलिए मैंने धीरे-धीरे ऑस्ट्रेलिया के इतिहास और नेतृत्वकर्ताओं की जानकारी प्राप्त कर ली है। इन सबसे वे लोग परिचित होंगे जिनकी व्यापक तौर पर सांस्कृतिक और बौद्धिक रुचियां हैं और जो यहां शिक्षित हुए हैं : गैलीपोली, यूरेका स्टॉकेड, नेड केली, ऐनज़ैक परंपरा, टेरा नूलियस पर चर्चा, द ग्रेट डिवाइडिंग, बॉडी लाइन शृंखला और ब्रेडमैन के अविजित दांव। हार लैप, वॉब मेन्ज़ीस, और आर्चबिशप डेनियल मैनिक्स, डेम एडना एवेरिज, सिम्पसन और उसका गधा, कोकोडा ट्रेल, पैट्रिक व्हाईट, गो व्हिटलैम, 'पिग आयरन बॉब', 'द ऑस्ट्रेलियन लेजेन्ड', और 'द रश दैट नेवर एन्डेड'। आज मैं अधिकांश रूप से ऑस्ट्रेलिया के प्रधानमंत्रियों के नाम तिथिवार जानता हूं। क्रिकेट के संबंध में मैं सक्षम हूं। मैं ऑस्ट्रेलियाई साहित्य पढ़ता हूं और कुछ हद तक उसकी राजनीति को भी समझने का प्रयास करता हूं। बेशक, अब भी दरारें मौजूद हैं। अभी भी बहुत कुछ जानना बाक़ी है। यह लिखते हुए मैं सोचता हूं कि काश! मैंने और सामान्य रूप से सम्पूर्ण फीजी-भारतीय संप्रदाय ने, इन प्रयासों के आधे भी प्रयास, फीजी लोगों की भाषा, संस्कृति, परंपराओं, और उनके आंतरिक संसार को जानने हेतु किए होते। फीजी लोग—जिनके साथ हमने एक शताब्दी से ऊपर का समय बिताया है और जिनके बारे में हम इतना कम जानते हैं। दुःख की बात है कि यह अज्ञानता पारस्परिक है।

ऑस्ट्रेलिया को जानने की जितनी चाहत और नये ज्ञान को पाने की जितनी ललक मुझमें है, मेरे बारे में जानने की उतनी चाहत, कुछ लोगों को छोड़कर, मेरे

सहकर्मियों और मित्रों में, दृष्टिगोचर नहीं होती—मेरे और मेरी पृष्ठभूमि, मेरे इतिहास और मेरी विरासत और मेरे साथ आई मेरी सांस्कृतिक गठरी के विषय में, वे नहीं जानना चाहते। मैंने जूडियो-क्रिश्चियन परंपरा को जानने का प्रयास किया है—जैसे लेन्ट का अर्थ और महत्व क्या है और आख़िरी जजमेन्ट, पापमोचन पत्रों का विक्रय, धर्मसुधार आंदोलन, याहवेह, और तोरहा के बारे में। मुझे कुछ क्रिसमस कैरल भी आती हैं ('आन द टवेल्फ्थ डे ऑफ क्रिसमस....')। परंतु मेरे ऑस्ट्रेलियाई मित्रों को मेरे धर्म और धार्मिक विरासत के बारे में बहुत कम ज्ञान है—भगवद्गीता के बारे में या हमारे त्यौहारों के बारे में—दीवाली, होली, रामनवमी—जीवन की यात्रा और समाप्ति के हमारे रीति-रिवाज़ों के बारे में, वे कुछ अधिक नहीं जानते। मेरा आंतरिक संसार उनके लिए, अब भी, एक रहस्य है। मुझे इस बात का बहुत अफ़सोस है कि मैं अपना सांस्कृतिक जीवन पूरी तौर पर उन लोगों के साथ नहीं बांट पाता जिनकी मित्रता, मैं, वास्तव में अमूल्य समझता हूं।

मुझे अकसर, यह एहसास होता है कि समझने की प्रक्रिया एकतरफा ही है। शायद मेरे ऑस्ट्रेलियाई मित्रों को मेरे बारे में जानने की कोई आवश्यकता नहीं महसूस होती; जानने की आवश्यकता तो मेरी अधिक है। मैं यहां बाहरी हूं, वे नहीं। खाई बहुत चौंड़ी है; हम में भिन्नता भी बहुत अधिक है। मैं भी, सच्चे तौर पर, कितनी भी कोशिश करूं, उनके सांस्कृतिक और सौंदर्यविषयक गहन पहलुओं को न जान सकता हूं, न उनका सही अर्थों में आनंद उठा सकता हूं। शायद, स्थितियां बदल जाएं जब—अगर का प्रश्न नहीं उठता—बहुजातीयता यहां गहरी जड़ें स्थापित कर लेगी, जब ऑस्ट्रेलिया का सार्वजनिक चेहरा सचमुच अपनी भिन्नता दर्शायेगा, जब हममें से अधिक लोग सार्वजनिक क्षेत्रों में अपना प्रभाव जमाएंगे न कि कार्टून पात्रों की तरह उचित उत्सवों पर केवल शोभायमान बने रहेंगे। ऑस्ट्रेलिया में, विभाजन रेखा का मुख्य आधार संस्कृति नहीं, लिंग है। जब हम विश्वविद्यालय में पदों का विज्ञापन देते हैं, तब हमें महिला अभ्यर्थियों को, संभावित रोज़गार अवसरों के बारे में, सचेत करने का विशेष प्रयास करना पड़ता है। विश्वविद्यालय, समितियों में, लिंग सन्तुलन का सिद्धान्त अपनाने के लिए कहता है। कुछ सहकर्मी पूछते हैं कि मेरे रिसर्च स्कूल ऑफ पैसेफिक एण्ड एशियन स्टडीज़ में एशिया और पैसेफिक के बुद्धिजीवी, इतने कम क्यों हैं ? रंग का अभाव क्यों है? कई लिंग असन्तुलन पर टिप्पणी कर सकते हैं। पर मैं सहमत नहीं हूं।

मुझे, बहुत कठोर प्रस्तुति करने से सावधान रहना चाहिए क्योंकि स्थिति बदल रही है। ऑस्ट्रेलिया का फीजी-भारतीय संप्रदाय, जबसे मैं यहां पहली बार, तीस साल पहले आया था, बड़े पैमाने पर बढ़ा है। आज, लगभग 50,000 फीजी-भारतीय ऑस्ट्रेलिया में रहते हैं। वास्तव में, ऑस्ट्रेलिया का सबसे तेज़ बढ़ने वाला संप्रदाय फीजी प्रवासियों का ही है। उनमें से 40 प्रतिशत लोगों की मंज़िल, ऑस्ट्रेलिया हो

रही है। लगभग सभी बड़े शहरों की नगर सीमाओं पर, फीजी-भारतीय देखे जा सकते हैं : दक्षिणी ब्रिसबेन, सिडनी में लिवरपूल, मेलबोर्न में एनडेवर हिल्स और डेनडेनॉन्ग में। लड़खड़ाते हुए फीजी के भविष्य के कारण, यह संख्या बढ़ती ही जायेगी। सभी मुख्य केंद्रों पर फीजी-भारतीयों द्वारा स्थापित वीडियो पार्लर, मसाले और पंसारी की दुकानें, रेस्तोरां, मंदिर और मस्जिद, सांस्कृतिक केंद्र, व समाचार पत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उनके सामाजिक उत्सवों में ऑस्ट्रेलिया के विशिष्ट लोग आमन्त्रित रहते हैं। यहां, बहुजातीयता का एहसास एक सच्चाई है, और दिन-ब-दिन यह एहसास सशक्त होता जा रहा है। समन्वय की विचारधारा अमान्य हो गई है और तकनीक व यातायात के साधनों में अभूतपूर्व विकास होने से सांस्कृतिक क्रान्ति का जन्म हुआ है। परिणामस्वरूप, राष्ट्रीय सीमाएं अधिक छिद्रिल हो गई हैं। ऑस्ट्रेलिया के प्रवासी संप्रदायों के चरित्र को निश्चित करने में, इस नये खुलेपन ने, इस विभिन्नता के प्रति सहिष्णुता और उसके समारोह ने, बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

दक्षिण एशियाई, पाश्चात्य और सागरीय सभ्यता के सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अनुभवों से प्रभावित, फीजी-भारतीय अनुपम हैं। इन मामलों में सामान्यीयकरण जोखिम भरा है परंतु मेरी आयु के किसी भी इन्सान के लिए, जो विश्वयुद्ध के उत्तरार्ध के फीजी में बड़ा हुआ हो, सच्चाई साफ़ है। हमारा खान-पान, हमारा धर्म और धार्मिक परंपराएं, हमारी खाने की आदतें और समान्य रूप से हमारा सौंदर्य बोध (उदाहरणार्थ, संगीत और सिनेमा में) निश्चित तौर पर दक्षिणी एशियाई है। कार्यस्थल और सामान्य रूप से सार्वजनिक बातचीत में हमारी भाषा, हमारी शिक्षा-पद्धति, कानूनी और न्यायिक परंपराएं, व्यक्ति और मानव के अधिकारों का हमारा एहसास, पश्चिम की विरासत है। परंतु, लोगों और स्थानों के प्रति हमारा दृष्टिकोण, हमारी सहनशीलता, जीवन के प्रति, 'सब ठीक हो जाएगा', 'कल दूसरा दिन है' का दृष्टिकोण—हमारी सागरीय सभ्यता की देन है। एक पर दूसरे का प्रभाव, समय और स्थान के आधार पर निश्चित होगा। वह, हमारी शैक्षिक पृष्ठभूमि, बाह्य प्रभावों का हम पर असर, हमारी पारिवारिक परिस्थितियां और संबंधों के दायरे पर भी निर्भर करेगा। विभिन्नता और विविधता होगी। संगति, संदभ और शायद स्वीकृति, के आधार पर, हम अपनी विरासत के किसी एक विशेष पहलू को या तो तीव्र करेंगे या उसे दबा देंगे : कुछ अधिक अंग्रेज़ी यहां, तो कुछ कम हिंदी वहां। कुछ भी हो, प्रत्येक फीजी-भारतीय, तीन मुख्य प्रभावों को, जिन्होंने उसको गढ़ा है, अन्तर में संजोये है। प्रश्न यह है कि, ऑस्ट्रेलिया में, इन प्रभावों को किस प्रकार संजोना, दबाना या उनके साथ समझौता, हो सकता है?

पहले हमारी दक्षिण एशियाई विरासत। कई अप्रत्याशित प्रकारों से यह विस्तृत हुई है और गहराई भी है। अनेक अवसर आते हैं, जब फीजी-भारतीय, हिंदू और मुसलमान, पूजा करने हेतु या त्यौहारों व विशेष सांस्कृतिक उत्सवों को मनाने के लिए, विश्व के अन्य भागों के हिंदू और मुसलमानों के साथ एकजुट हो जाते हैं।

ऐसे भी अवसर आते हैं, जब एक विशेष जीविका अपनाने वाले लोग, (धोबी, सुनार आदि) दुनिया के ऐसे ही अन्य लोगों के साथ मिलकर अपने संघ बना लेते हैं। वे अपने बच्चों को संप्रदाय के स्कूलों में भेजकर विशिष्ट नृत्य या हिंदी और उर्दू सिखवाते हैं (ऑस्ट्रेलिया में फीजी भाषा पढ़ाने वाला कोई स्कूल नहीं है)। ऐसे मौकों पर वे एक बड़े संघ का, हिंदू, मुसलमान या भारतीय संघ का, हिस्सा बन जाते हैं और उनकी फीजियन विरासत, पृष्ठभूमि में, कहीं खो जाती है। फीजी-भारतीयों के, भारत से और विश्व के अन्य भागों से आए भारतीयों के साथ, अधिकांश रूप से अच्छे संबंध रहते हैं। यद्यपि तनाव के कुछ पल, पूर्वाग्रह, ग़लतफहमी, और अज्ञानता के कारण पैदा हो जाते हैं।

परंतु, कभी-कभी पारस्परिक पारम्परिक असभ्यता, जो फीजी-भारतीयों और भारतीय-भारतीयों के बीच उपजती है, वह फीजी-भारतीयों की भारतीय चीज़ों में रुचि को कम नहीं करती। वास्तव में, अधिकांश फीजी-भारतीयों की यह रुचि, बढ़ ही रही है। मुख्य कारणों में, इन्टरनेट और वेबसाइटों की प्रगति है—जिनके द्वारा सूचनाएं वितरित होती हैं। वे, प्रतिभागिता को आमन्त्रित करते हैं और इन्सान के दायरे की सीमाओं को बढ़ाते हैं। ऐहिक और महत्वहीन सूचनाएं डिलीट बटन से तुरन्त समाप्त की जा सकती हैं। पर कुछ चीज़ों को, हम मिटा नहीं सकते, क्योंकि, वे हमारी कल्पना को बांधती हैं, हमारी जानने की इच्छा शक्ति को जाग्रत करती हैं गा हममें, खोज यात्रा पर ले जाने का दम भरती हैं। उदाहरणार्थ—मैं एक सामान्य रूप से रूढ़िवादी हिंदू परिवार में पला-बढ़ा हूं। हम सही अनुष्ठानों का पालन करते, सही पूजा विधियां अपनाते, देवताओं को विशेष चढ़ावा चढ़ाते—उन देवताओं के नाम, यद्यपि, अब मुझे याद नहीं हैं। ऐसे मौकों पर न ही पंडित को और न ही हमें कुछ पता होता था कि आखिर हो क्या रहा है? पिछले साल किसी ने मुझे न्यूज़ीलैण्ड से एक लेख भेजा जिसका शीर्षक था : 'हिंदू रीति-रिवाज़ और नित्यकर्म : हम उन्हें क्यों मानते हैं?' हम दीपक क्यों जलाते हैं? हमारे पास एक अलग पूजा का कमरा क्यों होता है? माता-पिता और बड़ों के सामने साष्टांग प्रणाम क्यों करते हैं? पूजा के समय हम कई बार शंख क्यों बजाते हैं, पवित्र भस्म को अपने माथे पर क्यों लगाते हैं? पद्मासन को हम क्यों विशेष मानते हैं? एकदम से इतने सालों से जो चीज़ें रहस्यमय प्रतीत होती थीं, अब साफ़ हो गई हैं। अब हम गूगल में जाकर धार्मिक ग्रन्थ (जैसे रामायण) पढ़ सकते हैं या बच्चों को सरल भाषा में उस महान ग्रन्थ का मुख्य संदेश बता सकते हैं।

भारतीय संस्कृति को फैलाने वाला दूसरा साधन जो फीजी-भारतीयों ने बहुत जोश से अपनाया है, वह है बॉलीवुड। 1930 के दशक के बाद से, भारतीय फिल्म उद्योग ने, दूरस्थ चीनी उपनिवेशों में, भारतीय संस्कृति को संजोये रखने में बहुत योगदान दिया है। जहां लोगों का सम्पर्क हिंदी से टूट चुका है (जैसे गुआयना में),

वहां भी लोग, हिंदी फिल्मों को देखते हैं ताकि उनके पूर्वजों की संस्कृति के कुछ अंशों से उनका संबंध बना रहे। जब मैं पहली बार ऑस्ट्रेलिया आया था, तब, वहां एक ही जगह थी जहां हिंदी पिक्चरें दिखाई जाती थीं—कैम्पस के एक लेक्चर थियेटर में। तब वीडियो पार्लर भी नहीं होते थे। अब कैनबेरा में ही करीब दर्जन भर से अधिक हैं (बड़े शहरों में बीसियों होते हैं)। अब तो, हिंदी पिक्चरें मुख्य सिनेमा हॉल में भी दिखाई जाती हैं। मिसिसिपी मसाला, मॉनसून वेडिंग, बेण्ड इट लाइक बेकहेम, लगान, वीर ज़ारा, ब्लैक, ब्राइड एण्ड प्रेज्यूडिस, भाजी ऑन द बीच, माई मदर इंडिया, जैसी हिंदी पिक्चरें विस्तृत अन्तर्जातीय दर्शकों को आकर्षित करती हैं। बॉलीवुड की सर्वोत्तम फिल्में, हॉलीवुड द्वारा बनाई गई फिल्मों का, तकनीक और फिल्मी आकर्षण, दोनों में मुकाबला करती हैं। वे, पारम्परिक, अनुदार विषयों से हटकर, अन्य प्रसंगों पर आधारित होती हैं : खोया प्यार, निर्धनता और दमन—सभी कुछ, इनमें, भड़कीले और खुले तौर पर दर्शाया जाता है। भ्रष्टाचार, ड्रग स्मगलिंग, योजनाबद्ध अपराध, शहरी हिंसा, बूढ़े होने की समस्याएं, जैसे विषय, पश्चिमी देशों में रहने वाले भारतीय संप्रदायों के जीवन में प्रतिबिंबित हैं। बॉलीवुड का प्रभाव बढ़ता ही जाएगा।

'प्रवासी परिकल्पना' ने भी, फीजी-भारतीयों और अन्य प्रवासी भारतीयों को व्यापक भारतीय संस्कृति से, पुनः जोड़ने का काम किया है। भारतीय लेखकों के नामों की भरमार है और उनकी सूची इतनी लंबी है कि सांस्कृतिक और बौद्धिक रुचि रखने वाले मनुष्य को उनके नामों को न जानना शर्मनाक माना जाएगा—भले ही उन्होंने उनकी रचनाएं न पढ़ी हों पर नाम तो जानना ही चाहिए। जैसे वी.एस. नायपॉल,सल्मान रुश्दी, विक्रम सेठ, अरुंधती रॉय, हनीफ़ कुरैशी, रोहिन्तन मिस्त्री, अमिताभ घोष, एम.जी. वसान्जी—सब अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार विजेता हैं और बड़े साहित्यिक उत्सवों में स्थायी अतिथि भी होते हैं। *ए हाऊज़ फॉर मिस्टर बिस्वास, मिडनाइट्स चिल्ड्रन, गॉड ऑफ स्मॉल थिंग्स, ए सूटेबुल बॉय, और द बुक ऑफ सीक्रेट्स। ए फ़ाइन बैलेन्स* को, (दर्जनों अन्य कृतियों के बीच), अधिकांश लोगों की, बीसवीं शताब्दी के महत्वपूर्ण उपन्यासों की सूची में, अवश्य स्थान प्राप्त हुआ होगा।

सूक्ष्म और भावनात्मक रूप से, ये उपन्यास, विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले, भारतीय संप्रदायों के अनुभवों को, अन्तर्राष्ट्रीय चेतनता और तीव्र केंद्रबिंदु पर केंद्रित करते हैं। एक समय था जब वे अनुभव साम्राज्य की परिधि पर दृष्टिगोचर होते थे; आज ये साम्राज्य के साहित्यिक संस्कृति के मर्मस्थल पर विद्यमान हैं। अब अच्छे साहित्य का एक बढ़ता हुआ संग्रह कार्यशील है, जिसके साथ प्रवासियों के बच्चे एकरूपता महसूस करते हैं और जिसे लेकर वे गौरवान्वित हो सकते हैं—बल्कि होते भी हैं।

भारत के बढ़ते हुए आत्मविश्वास ने, विज्ञान और तकनीक के कई क्षेत्रों में

उसके द्वारा पाई सर्वोच्चता ने, मुख्य क्षेत्रीय शक्ति के रूप में उभरते उसके अस्तित्व ने, सुरक्षा-परिषद में स्थायी सीट के लिए उसकी दावेदारी ने, सस्ते बाज़ारों के लिए निम्नस्तरीय माल का, अब, उत्पादक न होने ने, भारत की छवि को कई समुद्र-पार भारतीयों की दृष्टि में सुधारा है, इनमें फीजी-भारतीय भी शामिल हैं। अस्तित्व बनाए रखने की यह होड़, प्रवासी भारतीयों को, उपमहाद्वीप से जोड़ने में, अपना अलग योगदान देती है। मैं समझता हूं कि हम सबके अन्तःमन में, एक अनकही अभिलाषा, यह जानने की होती है, कि आख़िर हम कौन हैं?, कहां से आए हैं? व्यापक योजना में, हमारा स्थान क्या है? वी. एस नायपॉल ने भारत को, 'एन एरिया ऑफ डार्कनेस', कहा है—गंदगी और नैतिक पतन से भरपूर स्थान। उन्होंने इस बात की प्रसन्नता ज़ाहिर की है कि उनके बाप-दादा उस जगह को छोड़कर कैरिबियन में एक अधिक स्वतंत्र जीवन बिताने चले आए थे। परंतु इतने कड़े अभ्यारोपण के बावजूद, वे, समय-समय पर भारत वापस आते रहते हैं और उसके बारे में लिखते रहते हैं, भले ही उनके लिखने का दृष्टिकोण उग्र हो। हॉलैण्ड में एक भारतीय छात्रों के समूह ने, सूरीनाम गए सभी शर्तबंध मज़दूरों के हिंदू एमीग्रेशन पासों को सीडी-रॉम पर उतारा है और गुआयना में ऐसी ही परियोजना बनने की संभावनाएं हैं।

हर महीने ऑस्ट्रेलिया में, मुझसे लोग आवेदन करते हैं कि मैं उनके मूलों का पता लगाने में उनकी मदद करूं। मेरा बेटा, युनाइटेड स्टेट्स में जन्मा, ऑस्ट्रेलिया में पला-बढ़ा और भारत केवल एक बार गया है। उसने, बिना किसी के कहे, खुद मुझे बताया कि अगर उसे कोई दूसरी भाषा सीखनी हुई तो वह हिंदी ही होगी और एक दिन उसे अपने बच्चों के साथ भारत जाना ही पड़ेगा। कुछ चीज़ें, कुछ संबंध, कुछ दिल और आत्मा के मसले, कारणों से परे हटकर होते हैं।

हमारी फीजियन विरासत का क्या होगा? यह मेरा पक्का विश्वास है कि फीजी-भारतीयों की विरासत का यह पहलू लुप्त हो रहा है और आने वाले वर्षों में लुप्त होता ही चला जाएगा। पिछले दशक में कई लोगों ने, जातीय भेद-भाव और मूल मानव अधिकारों के हनन हेतु फीजी छोड़ा है। यह सब 1987 और 2000 के तख्तापलट अभियान के परिणाम हैं। तय बात है कि, फीजी-भारतीय, अपने अन्तर में बहुत कटुता का एहसास करते हैं। हिंसात्मक धमकियों का वर्तमान क्रम, मंदिरों और मस्जिदों का तोड़ा जाना, फीजी-भारतीय कृषकों की भूमि की पट्टेदारियों का न दोहराया जाना, सार्वजनिक क्षेत्र में कम होते अवसर, फीजियों के ताने कि फीजी केवल उनका है, किसी और का नहीं, जातीयता पर आधारित कार्य नीतियों का लागू होना जिनके परिणामस्वरूप फीजी-भारतीय बच्चे अलग-थलग पड़ गए हैं—यह सब, अधिकांश फीजी-भारतीयों के मन में यह भावना लाते हैं कि 'अच्छा हुआ, हम चले आए।'

पुराने फीजी-भारतीय प्रवासी फीजी से अपना संबंध, नियमित यात्राओं और

इन्टरनेट के माध्यम से बनाए हुए हैं। वे साम्प्रदायिक परियोजनाओं में धन का योगदान करते हैं, फीजी-भारतीय बच्चों के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था करते हैं, और परिवारों के उत्प्रवास का उत्तरदायित्व भी संभालते हैं। फीजी, उनका भावनात्मक घर है, भोलीभाली बचपन की यादों का स्थान है, यद्यपि वहां भी केंद्रबिंदु सम्पूर्ण फीजी-भारतीय संप्रदाय पर ही संकुचित होता जा रहा है। परंतु युवा पीढ़ी के साथ फीजी के बंधन कच्चे पड़ते जा रहे हैं। फीजी, उनके माता-पिता का देश है, उनका नहीं। छुट्टियां मनाने के लिए, वहां जाना ठीक है—सूर्य, बालू, समुद्र, आराम के लिए—पर रहने के लिए नहीं। जबकि पुरानी पीढ़ी अब भी वहां के राजनैतिक उठा-पटक, जो फीजी में अकसर होती रहती है, में रुचि रखती है, युवा पीढ़ी की अलग चिन्ताएं और रुचियां हैं। फीजी संस्कृति और समाज का बच्चों को कोई सीधा या व्यक्तिगत अनुभव नहीं है। उन्हें, वहां की भाषा नहीं आती, फीजियन खाने में भी उनकी रुचि कम है। कावा, फीजी का राष्ट्रीय पेय, उनको मिट्टी के समान, पीने में लगता है। साथ ही, ऑस्ट्रेलिया में, फीजियों से मिलने के मौके भी, उन्हें, बहुत कम मिलते हैं। अधिकतर फीजियन लोग, प्रशांत सागर के अन्य द्वीप वासियों से मिलना-जुलना रखते हैं जबकि फीजी-भारतीय, दक्षिण एशियाई लोगों से मिलना अधिक पसंद करते हैं। कभी-कभार यदि दोनों संप्रदाय मिले भी तो राजनीति, बेदखली की यादें, और भेदभाव, अच्छे संबंधों में आड़े आ जाते हैं।

ऑस्ट्रेलिया में, फीजी-भारतीय संस्कृति, महत्वपूर्ण तरीकों से बदल गई है। उदाहरण के लिए, भाषा को ही लीजिये। जो फीजी हिंदी, मैं, यहां बोलता हूं, वह फीजी में नहीं बोलता था। तब उसमें विदेशी शब्दों का सम्मिलन कम था। परंतु, अब मेरी फीजी-हिंदी में कई अंग्रेज़ी शब्द और वाक्यांश जुड़ गए हैं। मुझे शक है कि यही बात फीजी के शहरी इलाकों में भी हो रही है। ड्रिंक्स और डिनर है; काफ़ी लेट हो गए; लंच कर लिया; कुछ ट्रबल नहीं है; बड़ा बैड हो गया; उसको सपोर्ट करो; रिपोर्ट लिखो; वॉक पर चलोगे; टेलीफोन मारो। मेरे पिता की पीढ़ी को मेरी फीजी हिंदी अन्जान और परायी प्रतीत होगी। मेरे बच्चों की, अस्थिर रूप से सीमित, अंग्रेज़ी द्वारा प्रभावित, फीजी-हिंदी, उनके समझ के परे होगी, जैसे कि उनकी भाषा जो ग्रामीण संदर्भों और लुप्त हुए रूपकों से अलंकृत रहती थी, हमें कुछ-कुछ विदेशी और हास्यास्पद प्रतीत होती है। इस अवश्यम्भावी परिवर्तन में कुछ दुःख भी छुपा है। शायद, यह 'विकास' का मूल्य है जो हमें अपने जन्म-स्थान से अलग रहने के कारण चुकाना पड़ रहा है। मेरे बचपन की भाषा, फीजी-हिंदी ही थी। मेरे और मेरे माता-पिता के बीच में संबंध स्थापित करने हेतु यही एक भाषा थी—माता-पिता, दोनों ही अनपढ़ थे, और अब इस दुनिया में हैं भी नहीं। यही भाषा थी, जिसके माध्यम से, मैंने, एक समय में, संसार का अवलोकन किया था, जिसके द्वारा मैंने अपने अतीत और अपने बारे में जाना, कहानियां सुनाईं, और कई भेद आपस में

बांटे। वह संसार, वह भाषा, मेरे बच्चों के लिए अन्जान है, और मेरे साथ ही चली जायेगी।

मेरे कार्य करने की भाषा अंग्रेज़ी है पर मेरी गहन भावनाओं की अभिव्यक्ति में, वह असमर्थ है। हमारे सामाजिक संबंधों के जटिल गठन को समझने में असमर्थ—वे संबंध जो हमारे संप्रदाय के अभिन्न अंग हैं। कुछ संबंधों और उनसे लगी कई सांस्कृतिक मान्यताओं, की व्याख्या करने हेतु, कोई अंग्रेज़ी शब्द है ही नहीं। अंग्रेज़ी शब्द 'अंकिल' एक निश्चित संबंध दर्शाता है और अधिकांश देशी लोग उसे समझते होंगे। जब बारीक भिन्नताओं की आवश्यकता होती है तो 'मैटर्नल' और 'पैटर्नल' जैसे शब्द जोड़ दिए जाते हैं। पर यह भी हमारे लिए काफी नहीं है। हमारे पास अलग-अलग 'अंकिलों' के लिए अलग-अलग नाम हैं—पिता के छोटे भाई को काका कहते हैं। उनके बड़े भाई को दादा। मां के भाई मामा कहलाते हैं और पिता की बहन के पति फूफा—अंग्रेज़ी में, वे सब 'अंकिल' ही हैं। पर हिंदी में प्रत्येक का अपना स्थान है, और अपने निश्चित कर्तव्य। काका से हम खेल सकते हैं, हंसी-मज़ाक कर सकते हैं, पर दादा से हमारा संबंध अधिक औपचारिक और दूरी लिए होता है। अपने पिता को अधिकारपूर्ण और प्रभावशील तरीके से समझदारी की बातें बताने के लिए, दादा पर निर्भर रहा जा सकता है; काका क्योंकि छोटे होते हैं और श्रेणी क्रम में अपना यथोचित स्थान जानते हैं, इसलिए वे ऐसा नहीं कर सकते, कम से कम, सामान्य रूप से। अंग्रेज़ी में 'बदर-इन-लॉ' बहुत व्यापक शब्द है पर हिंदी में ऐसा नहीं है। बहन का पति जीजा होता है, परंतु पत्नी का भाई साला कहलाता है। उससे, आप, हंसी-मज़ाक कर सकते हैं, ख़ासतौर पर, अगर वह आपसे छोटा है—पर जीजा के साथ ऐसा नहीं कर सकते। अपनी बहन का कल्याण आपके मस्तिष्क में सर्वोपरि रहता है। जीजा के साथ कटु संबंध उसके लिए बुरे परिणाम ला सकते हैं। बड़े भाई की पत्नी भाभी कहलाती है, और छोटे भाई की पत्नी को 'छुटकी' कहते हैं। भाभी के साथ आदर और प्रेम से बरता जाता है, एक मां की तरह। भाभी और छुटकी को हम नाम से नहीं बुलाते। उसी तरह उनके द्वारा आपका नाम लेना, सोचा भी नहीं जा सकता, कम से कम आपके मुंह पर। एक-दूसरे के साथ हमारे संबंध व्यक्ति के आधार पर नहीं होते पर सामाजिक पात्रों की तरह इन संबंधों की, सांस्कृतिक रूप से, निश्चित भूमिकाएं होती हैं।

आधुनिकता के प्रभावों और बढ़ती गतिशीलता के दुष्परिणामों के कारण, कुछ पारिवारिक संबंधों को बांधने वाले सांस्कृतिक नयाचार और सीमाएं, ऑस्ट्रेलिया में टूट गई हैं—फीजी के शहरी इलाकों में भी, अब, ऐसा ही दृष्टिगोचर होता है। मैं, आज भी, अपनी भाभियों को नाम लेकर नहीं बुलाता (मुझे उनके नाम पता ही नहीं हैं!) पर अपने छोटे भाइयों की पत्नियों को, अब मैं, नाम से बुलाने लगा हूं। यदि छुटकी ही फोन उठाती है तो आपके पास उससे बात करने के अतिरिक्त और कोई

रास्ता भी तो नहीं बचता! उनके सामने, मैं, कोई ऐसी-वैसी बात न करूं, इसका ध्यान, मैं, रखता हूं। मेरे सब भाइयों के बच्चे मुझे 'दादा' कहकर बुलाते हैं। मुझे नाम लेकर बुलाने का वे सोच भी नहीं सकते। इसी तरह मेरे बच्चे भी करते हैं, जब वे 'अंकिलों' और 'आंटियों' को संबोधित करते हैं। फीजी-भारतीय संप्रदाय के बड़े लोगों को और पारिवारिक मित्रों को भी 'अंकिल' और 'आंटी' कहकर ही बुलाया जाता है—परंतु सामान्य रूप से यह प्रथा हमारे ऑस्ट्रेलियाई मित्रों पर लागू नहीं होती। मुझे कोई शक नहीं कि जिन परंपराओं और प्रथाओं के साथ हम बड़े हुए हैं, वे हमारे साथ ही चली जाएंगीं। हमारे बच्चों के संसार को गढ़ने में कुछ अलग प्रभाव ही कार्यशील रहेंगे।

जैसे मैंने बताया, अंग्रेज़ी मेरे कार्य करने की भाषा है पर मैं उसकी व्याकरण की बनावट की गहनता, उसके लिखने के सही नियमों से, परिचित नहीं हूं : एल्फ़ा, बीटा, और कोऑरडिनेट क्लॉज़ेज़, ऑक्ज़ीलेरी, इनफीनिटिव और इनट्रांसिटिव वर्ब, प्रेपोज़िशन और सबआर्डीनेट क्लॉज़ेज़—यह सब मुझे आज भी भरमा देता है। साथ ही अंग्रेज़ी में यूनानी और रोमन पौराणिक कथाओं के संदर्भ भी, मुझे, समझ में नहीं आते—पैन्डोरा बॉक्स, एचिलिस हील, ट्रोजन हॉर्स, क्रॉसिंग द रुयूबिकॉन, किलोपैट्रा की नोज़, यूलीसीज़, साईक्लेडस और साइक्लोप्स; अंग्रेज़ी में ओल्ड और न्यू टेस्टामेंटों से ली गईं कहानियों और लोगों के संदर्भ, जॉब, जॉन, मैथ्यू, और एब्राहम, सॉलोमन की बुद्धिमत्ता और 'बुक ऑफ एक्लिज़ियास्टस' और 'ऐज़िकियल' से लिए गए वाक्यांश, भी मेरी समझ के परे थे; उसके द्वारा यूरोपीय साहित्य से लिए हुए शब्द भी—हाईस्कूल करने के सालों बाद मुझे पता चला कि वाक्यांश 'टू कल्टीवेट योर गार्डेन', वॉल्टेयर की 'कैन्डाईड' से लिया गया है—यह सब बातें, आप धीरे-धीरे पढ़ कर ही समझ सकते हैं; और आज भी वे मेरी पहुंच के बाहर ही हैं। वर्षों की व्यक्तिगत दुखदायी पढ़ाई के बाद ही, मैं, यह मालूम कर सका कि 'क्यूरेट ऐग' क्या होता है, 'सेंट टू कॉवेन्ट्री' का अर्थ क्या है, किस प्रकार से वाक्यांश 'बिटवीन द डेविल एण्ड द डीप ब्ल्यू सी' की शुरूआत हुई और ऐसे महत्वपूर्ण शब्द जैसे 'नैंवी पैंबी', पेइंग थ्रू योर नोज़' 'फेसिंग द म्यूज़िक', 'पासिंग द बक', के क्या अर्थ हैं। आप कह सकते हैं कि कई देशी अंग्रेज़ी बोलने वालों को भी इस भाषा की व्युत्पत्ति के गुणों की गहन जानकारी नहीं है। यह सच हो सकता है परंतु सर्वोत्तम मनुष्यों को यह जानकारी होती है—केल इंग्लिस या बिल गैमेज जैसों को सब पता है और वे ही मेरे संदर्भ बिंदु हैं, साधारण छात्र नहीं।

फिर भी जो ऑस्ट्रेलिया में कार्य करते हैं उनसे अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान की अपेक्षा की जाती है। जर्नलों और बुद्धिजीवी प्रेस, जहां मैं अपना काम छपने भेजता हूं, वहां के लोग मेरे अस्थिर भाषा ज्ञान की पृष्ठभूमि के आधार पर कोई रियायत नहीं करते। बुद्धिजीवी क्षेत्र में इसी तरह खेल खेला जाता है। और जर्नलों के सम्पादन

के रूप में, मैं भी लेखकों की भाषा संबंधी गल्तियों को नहीं बख़्शता हूं। वर्षों के सीखने और भुलाने के प्रयासों के बाद, सालों के शक और निराशा के उपरान्त ही, मैं इस भाषा की कुछ जानकारी हासिल करने का दावा कर सकता हूं। मैं, सरल से सरल रूप में लिखने का प्रयास करता हूं (पूरी तरह से ईमानदारी बरतने का, मुझे यही तरीका मालूम है)। मेरी इस लेखन शैली ने, अनाप-शनाप बोलने वाले मेरे सहकर्मियों को, जो आधुनिकतम शब्दकोष जैसे ही प्रतीत होते हैं, प्रेरित किया, कि वे सरल लेखन को, एक पक्षीय लेखन से संबद्ध करें। मुझ पर कई बार यह आरोप लगा है कि मैं धाराप्रवाह लिखता हूं। पर, काशः पढ़ने वालों को मेरी लेखनी के पीछे मेरे अथक प्रयासों, उसे बार-बार दोहराने की कोशिश, और उसमें छिपी सुविचारित सोच, का पता चल पाता। अच्छे लेखन को देखकर ही मैं पहचान लेता हूं; मैं उन लेखकों से ईर्ष्या करता हूं जो प्रयासरहित रूप से धाराप्रवाह लिखते चले जाते हैं और शब्दों का इस प्रकार से प्रयोग करते हैं, जैसे उनका उन पर स्वामित्व हो। उदाहरणार्थ, 'न्यू योर्कर' में प्रकाशित निबंध और पुनरावलोकन, के सुंदर रूप से गठित वाक्य, उसके रूपकों और कल्पनाओं की विस्मयकारी गुणवत्ताएं, निश्चित रूप से मुझे प्रशंसा करने को प्रोत्साहित करती हैं (साथ ही मुझमें निराशा भी जगाती हैं कि मैं उस तरह कभी नहीं लिख सकता, चाहे कितनी भी कोशिश कर लूं)। मैं, सहर्ष अपनी सीमाओं को स्वीकार करता हूं। शब्दों से अर्थ और चमत्कार लाना, जैसा कि वे कर लेते हैं जिनकी अंग्रेज़ी मातृभाषा है, मेरे बस की बात नहीं है। आज यही सच है, और हमेशा, यही सच रहेगा।

अंग्रेज़ी के कई अदेशी वक्ताओं की तरह, मैं भी साहसिक बनकर भाषा के नियमों को स्वीकार करने में कमी बरत सकता हूं, परंपराओं के विरुद्ध जाकर उनसे खेल सकता हूं, अपनी आवश्यकताओं के आधार पर उनको तोड़-मरोड़ भी सकता हूं। मैं, चाहूं तो एक विद्रोही, पक्षविरोधी, संवेदनशील विशिष्टताओं की अवज्ञा कर सकता हूं। अनेकत्व और विविधता जो आज स्वीकार की जाती है, शायद प्रोत्साहित भी की जाती है, उसका फायदा उठा सकता हूं। पर मुझे पता है कि मैं एक अलग अतीत और अलग अपेक्षाओं से बंधा हूं। मुझ पर कभी-कभी यह अभियोग भी लगता है कि, मैं, उस 'समन्वय की पीढ़ी' का हिस्सा बन गया हूं जो स्थानीय अभिव्यक्ति व मुहावरों के तरीके नहीं अपनाती। कहते हैं कि मैं, औपनिवेशिक शिक्षा और अंग्रेज़ी भाषा की ज्ञान-मीमांसा और बौद्धिक परिसर का गुलाम हूं। शायद, हम सब अपने खुद के इतिहास द्वारा ही गढ़े जाते हैं।

औपचारिक अंग्रेज़ी लिखना एक बात है और उसको बोल-चाल की भाषा में प्रयोग करना, दूसरी। उसमें सामान्य रूप से वार्तालाप करने के लिए आपको स्थानीय मुहावरों और रूपकों का ज्ञान होना आवश्यक है—जैसा कि कहा जाता है कि स्थानीय लोक भाषा की पकड़। यह सब उसके लिए आसान नहीं, जो ऑस्ट्रेलिया देर से,

अर्धनिर्मित अवस्था में आया है। नये शब्द और वाक्यांश, जो मैंने पहले कभी नहीं सुने थे, उन्हें याद करके, मुझे, सही संदर्भों में प्रयोग करना सीखना पड़ा ; डॉरोथी डिक्सर, गैला रेल्स, कोटहैंगर, डिंगबैट, वांकर, ड्रोंगो, टॉल पॉपी, रिपर, माई ओथ, ब्लजर, डिंकी डी, फ़ेयर डिंकम, स्पिटिंग द डमी, हैव अ गुड वन–शब्द जो स्थानीय लोग बिना प्रयास किए ही प्रयोग करते हैं पर जो नये आगंतुकों के लिए अन्जान हैं। गलत समय पर गलत शब्द के प्रयोग से जो शर्मिंदगी महसूस होती है उसका बखान नहीं किया जा सकता और वह भी ऐसे लोगों के बीच में जो समझते हैं कि आप भी स्थानीय भाषा के उतने ही ज्ञानी हैं जितना कि वे। मुझे याद है कि कई वर्ष पहले हवाई में एक पार्टी में, मैंने, 'फैनी' शब्द का प्रयोग किया–किस संदर्भ में मुझे याद नहीं। ऑस्ट्रेलिया में उसका अर्थ महिला नितंब से है परंतु अमेरिका में उसका मतलब स्त्री जननांग होता है–लज्जापूर्ण सन्नाटा छा गया था। यह सही है कि स्थानीय भाषा का प्रयोग करने का अवसर मुझे कम ही मिलता है। मेरी स्थिति ही ऐसी है। पर बात वह नहीं है; आज जिसे मैं अपना घर कहता हूं, उस देश की सांस्कृतिक और भाषा संबंधी विशेषताओं से, मैं, अनभिज्ञ नहीं रहना चाहता।

मेरे लिए और अन्य कई फीजी-भारतीयों के लिए, प्रशांत महासागर पार करके, एक द्वीप से एक द्वीपीय महाद्वीप में आना, एक भौतिक यात्रा से कुछ अधिक भी है। गहन, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक संदर्भ में वह उसी संवेदनापूर्ण परिवर्तन की तरह था जो गिरमिटियाओं ने एक शताब्दी पूर्व किया था। ऐसे परिवर्तनों द्वारा, काम करने के पुराने तौर-तरीके, पुराने संबंध और पूर्वधारणाओं को तजकर नये वातावरण की आवश्यकताओं के मुताबिक अपने को ढालना पड़ता है। सामाजिक और व्यक्तिगत संबंधों का आधार, एक समय में जो सुरक्षित समझा गया था, एक बार फिर से एक ऐसे समाज में परिभाषित किया जाता है, जिसके मूल्य पूर्ण रूप से भिन्न होते हैं। एक पीढ़ी पहले के ऑस्ट्रेलिया के मुकाबले में आज का ऑस्ट्रेलिया परिवर्तन और रंग को स्वीकार करने के लिए अधिक तैयार है। वास्तव में, एक और ऑस्ट्रेलिया है जो परिवर्तन का विरोध कर रहा है, जो सांस्कृतिक रूप से एक समरूप अतीत में वापस जाना चाहता है, और तेज़ी से लुप्त हो रहे संसार के बेतुके रूप को दोहराता रहता है। पर जैसा कहा जाता है कि घड़ी की सूइयों को पीछे कर सकते हैं, पर समय की गति को नहीं।

जैसा कि मैंने शुरुआत में कहा, कि ऑस्ट्रेलिया, प्रवासियों के लिए एक सत्कारशील देश है। उसे जानने में हर्ष का अनुभव होता है क्योंकि वह एक ऐसा समाज है, जिसे आज भी विकसित होने का एहसास हो रहा है, ऐसा समाज जो आज भी अपनी राष्ट्रीय पहचान से संबंधित प्रश्न उठा रहा है। वह ऐसा समाज नहीं है जो पूर्ण रूप से विकसित हो चुका हो या जिसकी सारी सांस्कृतिक संस्थाएं भलीभांति स्थापित हो चुकी हों। ऑस्ट्रेलिया के नागरिक बनकर हमें अपने पुराने

देशों की यादों को भुलाना नहीं पड़ा है। ऐसा हो भी नहीं सकता है। बल्कि उन संबंधों को रचनात्मक रूप से प्रयोग करने की, हमें प्रेरणा दी जाती है। मैं, इस सहिष्णुता और खुलेपन, का स्वागत करता हूं, यद्यपि मेरा दिल जानता है कि, मैं, ऑस्ट्रेलिया और फीजी, दोनों में, हमेशा एक बाहरी व्यक्ति के रूप में ही देखा जाऊंगा– उनके समाजों की गहरी चिन्ताओं और सपनों के हाशिए में। मैं, दर्तमान के मध्यस्थ क्षेत्र का निवासी कहलाता हूं। हमारे समय का शायद यही रूपक है–शायद यह जीवन का ही रूपक है: एक कवि के शब्दों को दोहराता हूं, यद्यपि और कई चीज़ों की तरह उसका नाम भी बिसरा चुका हूं :

जिसे प्यार करता हूं, उसके पास जा नहीं सकता,
जिसकी आशा करता हूं, वह सदैव बंट जाता है।